पुस्तक-भवन, सीरीज संख्या २१

धुएँ के धब्बे

मनोहर चतुर्वेदी बी ए

पुस्तक - भवन, बनारस

आशीर्वचन

इस संग्रह के प्रणेता श्री मनोहर चतुर्वेदी नवयुवक है, जीवन के बहुत से अंशों से अनभिज्ञ हैं, अभी शिक्षा ग्रहण कर रहे है। हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य का इन्होंने इच्छा अध्ययन किया है और कर रहे है। कविता से इन्हें विशेप प्रेम है। ब्रज के निवासी हैं, पर रचना खडी बोली में करते हैं।

भावुकता इन कविताओं की प्रधान विशेषता है। काल क्रम से, प्रौढ़ता आने पर, और अध्यवसाय के पश्चात्, काव्य के और भी गुण—सरसता, कल्पना, विचारगाम्भीर्य्य—इनकी कृति में हम देख सकेंगे, ऐसी आशा इन रचनाओं के आधार पर हम कर सकते हैं।

"अविदितगुणापि सुकवेर्भणितिः कर्णेषु किरति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥"

—डा० अमरनाथ झा

वाइस-चासलर, प्रयाग विश्वविद्यालय।

अंतर्दर्शन

आज जब 'धुएँ के धब्बे' नाम से मेरी कुछ रचनाएँ पुस्तक रूप में प्रकाश पाने जा रही हैं, तो मै कलम को उँगलियो में दबाये, ठोडी पर हाथ रखे सोच रहा हूँ—क्या मेरी भी कुछ बात हो सकती है? 'हो सकती है' इसलिए कहता हूँ क्योकि जो बात मेरी 'है', उसे तो मैं न कहूँगा, न कहने पाऊँगा, न कहने दिया जाऊँगा। तब फिर जो 'है' उसके अतिरिक्त वह क्या है जो 'हो सकती है'? किन्तु इस सब के पहिले दो बाते स्पष्ट कर दूँ! इन पक्तियो के लेखक की ट्रैजेडी अतर्मुखी भावनात्मक आराधना की ट्रैजेडी है। अत· उसकी बाते समझ में न आयें अथवा उन्हें गलत समझ लिया जाये, तो कोई आश्चर्य नहीं। आदमी की रूढ़िगत दुनियादारी और समझदारी की देहली पर उसकी सात समदर पार रहने वाली भावना-परी का बलिदान हो जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु जो कुछ भी उसने किया, (कम से कम अपनी ओर से) इतनी सत्यता के साथ किया, इतनी सत्यता के साथ किया, कि यदि उसका रोम-रोम काटा जाय, तब भी अत तक एक ही आवाज निकलेगी। दूसरे को समझने में भले ही गलती कर सके, पर अपने आपको वह अच्छी तरह से पहिचानता है। ऐसी दशा मे वर्तमान हिन्दी कविता की गति-विधि पर विचार प्रकट करूँ, अथवा प्रगतिवाद और मार्क्सवाद के सिद्धान्तो का निरूपण करूँ, यह सब ठीक नहीं। 'धुएँ के धब्बे' की जननी अपनी मानसिक पृष्ठभूमि का एक शाब्दिक परिचय—एक धुँधला सा आभास दे सकूँ, इतना ही मेरे लिए काफी है और यही वह बात है जो इस समय मेरी 'हो सकती है'!

तो अपने आपको एकदम पकड़ लूँ!

'विजन वन का राजकुमार' जैसी सुन्दर और सुरुचिपूर्ण तथा 'कापालिक' जैसी काली और कुरूप अनेकानेक ऑनरेरी उपाधियाँ मुझे अयाचित और अनायास ही मिल गई हैं। मैं उन्हें लेकर खुश हूँ या

सर टकराने पर एक बार रक्त चाहे देर से निकले, (मेरे शरीर मे रक्त की मात्रा है भी कम), किन्तु अन्तर्जगत को तनिक सी भी ठेस देने वाली बात मुझे, देश-काल की सज्ञा से शून्य करके, मेरी रग-रग को झकझोर कर तुरन्त ही अधमरा बना देगी—इस बात को मै किससे और कैसे कहूँ ? भूख मुझे लगती है और जब तक जीवित हूँ, लगती रहेगी ! किन्तु जीवन के उन क्षणो को भी तो नही भुलाया जा सकता, जब अन्तर के किसी उद्वेलन के कारण लगातार सात-सात दिन तक न कुछ सा खाकर भी, भूख तो क्या, भूख का आभास तक नही हुआ। और नींद ? उसके भी बन्धन से मै अछूता नही ! परीक्षा की रातो मे भी कितना जाग सका हूँ—यह मुझसे छिपा नही है। किन्तु दूसरी ओर वे अनेक राते भी तो हैं जब किसी मन के से साथी के साथ बैठ कर मन की बाते करते करते भोर हो जाता था और 'नींद की तो बात क्या, पलके न झँपती थी !' नींद-भूख उडजाना केवल मुहाविरा ही तो नही है न ?

अपनी व्यावहारिक अपटुता के कारण मै निरा 'गधा' ही क्यो न होऊँ, पर वह बेचारा चार पैर का सीधा-साधा सा जीव जो अपने गधेपन के कारण ही एक प्रकार से बिना कुछ प्रतिदान लिए हमारा इतना काम-धन्धा करता है—उसके नाम को न जाने क्यो हम घृणासूचक विशेषण की तरह प्रयुक्त करते हैं ? क्या गधा अपने गधेपन के कारण ही महामहिम भी नही है ? मेरी समझ से तो गधा जैसी पदवी से विभूषित होकर किसी भी समझदार आदमी को गौरव का अनुभव करना चाहिये। झूठ-मूठ खुश हो लेना बात और है, किन्तु मै इतना भाग्यशाली कहाँ, जो उस परम निरीह सन्त की समता कर सकूँ ? मुझ जैसा निकम्मा आदमी दुनियाँ के किस काम आयेगा ? हाँ, यदि व्यावहारिक ससार की अपनी अनेक भूलो और हारो के कारण ही मै गधा हूँ, तब तो मेरे लिए निराश होने का कोई कारण नही ! वस्तुजगत मे मैं रक हूँ—एक दम अकिंचन हूँ, सबकुछ माना ! पर मेरा भी अन्तर्जगत का एक अपना वैभव है—एक अपनी विभूति है जो ससार के शेष असंख्य वैभवशाली प्राणियो मे से कितनो के पास है ? इतना अवश्य है कि वह वैभव न तो रुपया, आना, पाइयो मे ही गिना जा सकता है और

जीवन कहीं अधिक प्रिय होता है। दुनियाँ उनकी बोटी-बोटी को क्यों न नोच ले, किन्तु उनकी आत्मा सदैव ही अनाहत और अडिग रहती है—एक स्थिर चट्टान की भाँति। अपने विद्रोही सदस्यो के साथ दुनियाँ ने आज तक कौन कौन से अत्याचार नही किये? जो बात दुनियाँ की समझ के साँचे मे बैठगई, वह तो ठीक है; किन्तु जो बात उसे तनिक भी अनहोनी सी लगी, वही ग़लत है, हेय है, दडनीय है। अपने दुनियावी तराजू में वह सभी कुछ तोल लेना चाहती है। मानव के अतर की सूक्ष्मतम अभिव्यक्तियो और आशाकाक्षाओ का न तो उसकी दृष्टि मे कोई मूल्य ही है और न उनसे कोई परिचय ही!

इसी सिलसिले मे एक घटना याद पड़ रही है—सन्, ४२ के जुलाई मास की। कुछ होगया था ऐसा जिससे किसी रात को एक अतुलनीय हर्ष के पश्चात् ही एक गहरा विषाद छागया था नस-नस मे। जी बहुत बेचैन हो उठा था। रात के बारह बजे होगे; मैं अपने मन के से एक मित्र के साथ घूमने निकल पड़ा। नगर से बहुत दूर एक निर्जन वन मे पहुँच कर एक साफ सुथरी सी भूमि पर लेटेलेटे हम लोग बातें करने लगे। सविस्तार घटना-क्रम बतलाना कठिन है, किन्तु सक्षेप मे इतना ही है कि रात के दो-ढाई बजते बजते बन्दूक आदि से लैस लगभग पचीस फौजी सिपाहियो ने हमे घेर कर पकड़ लिया। हवालात तक ले जाते ले जाते हम चोर-डाकुओ की जो दुर्गति हुई, उसके विषय मे कहना ही वृथा है। किन्तु हम चोर-डाकुओ को उस दुर्गति के कारण उतना दुख नहीं हुआ जितना दुख सवेरे 'हम क्रान्तिकारियो' को एक एम० एस-सी० पास दारोगा साहब की बात सुनकर हुआ। हमारे यह कहने पर कि हम लोग केवल घूमने के लिये ही उस निर्जन स्थान मे गये थे, वे बोले—जी हाँ! क्या मेरी आँखो मे धूल झोकना चाहते हो? मैं किसी तरह भी नहीं समझ सकता कि इतनी रात गये, ऐसे निर्जन भयावने स्थान में कोई घूमने की गरज से ही आ सकता है। इतनी उम्र बीत गई, पर तुम जैसे आदमी तो कभी देखने में ही नहीं आये!

उधर दारोगा साहब यह सब कह रहे थे, इधर मैं सोच रहा था—क्या सचमुच इतनी रात गये ऐसे निर्जन स्थान मे कोई घूमने के लिये

उसमें तनिक भी नहीं होती। किन्तु तारोंभरी अँधेरी रात का अधकार से आवृत्त लजीला प्राकृतिक सौन्दर्य हमें थपथपा थपथपा कर एक अनिर्वचनीय सुख और शान्ति प्रदान करने वाला होता है। वह सौन्दर्य लज्जा से परिवेष्टित गम्भीर गरिमामयी गृहनारी का सौन्दर्य है—एक वेश्या का सौन्दर्य नहीं। मै जो कहता हूँ वह सभी के लिये लागू हो—ऐसा कहने की धृष्टता मैं कदापि नहीं कर सकता। हाँ, मैं ऐसा अवश्य सोचता हूँ। इसी कारण सर्वप्रथम मैंने जब सागर के भीषण सौन्दर्य को देखा, तो वर्षा से भीगी एक अमावस की अर्धरात्रि को! वह सूचीभेद्य अधकार! वह अपार जलराशि! वे उत्ताल तरगें! वह घिरा घिरा सा अँधेरा आकाश! और अत मे, लहरो की टकराहट से उछली हुई बौछारो से एकदम तरबतर खोया खोया सा मै! ओह! उस अँधेरे क्षण की तीव्र अनुभूति को मै शायद ही कभी भुला सकूँ!

वास्तव मे जीवन कुछ ऐसे ही क्षणो का नाम है। किसी के जीवन की माप के लिये हमे उन असख्य क्षणो को नहीं गिनना है जिनमे उसकी साँसे आती जाती रहीं, प्रत्युत उन क्षणो को गिनना है जिनमे उसकी साँसें किसी तीव्र अनुभूति अथवा महान भावावेश के कारण रुक रुक गईं। कितनी बार सासे आई गई—इससे जीवन का परिमाण नहीं जाना जा सकता, क्योकि 'रहना' और 'जीवित रहना' दो भिन्न भिन्न बाते हैं। खाते पीते, लडते झगड़ते, और हाहा-हीही करते हुए, हम केवल 'रहते' भर हैं—जीवित नहीं रहते। जीवन तो केवल उन्हीं अनुभूतिपूर्ण और भावावेशमय क्षणो का नाम है जब हमारी साँस चलते चलते थम-थम जाती है। इस दृष्टि से देखने पर एक अठारह वर्ष के लड़के की अवस्था एक अस्सी वर्ष के बुड्ढे की अवस्था से कहीं अधिक हो सकती है और कितने ही ऐसे मिल सकते हैं जो बिना एक क्षण भी जीवित रहे सारी उम्र समाप्त करके अन्त में मर भी जाते हैं। बात कुछ अजीब अवश्य लगती है! किन्तु है सो है!

केवल एक यह बात ही नहीं, कितनी ही बाते हैं जो अजीब लगती हैं। अजीब लगती हैं इसलिए क्योंकि हमें स्वय उनका अनुभव नहीं होता। आदमी के विकसित अन्तर का ताना-बाना जिन कोमलतम सूक्ष्म

प्रेमियो की ही। प्रेमी का सबसे बड़ा आदर्श अपने प्यारे के सुख की अभिलाषा ही रहती है। केवल एक साध को छोड़कर अपनी सारी आशाकाक्षाओ को वह अपने प्यारे के चरणो पर बलिदान कर सकता है। और वह एक साध है अपने प्रियतम को देखने की इच्छा। प्रियतम को देखने की इच्छा सचमुच बड़ी ही तीखी होती है। जहाँ यह इच्छा समाप्त हुई, वहीं प्रेम भी समाप्त हो जाता है। जो आदमी प्रेम करता है और कहता है कि उसने अपने प्यारे को देखने की लालसा को भी कुचल दिया—वह झूठा है। या तो वह प्रेम नही करता और या उसने उस इच्छा को नहीं कुचला। बस यही इच्छा वह सीमा-रेखा है जिसके इस पार प्रणय का प्रगाढतम निस्वार्थ रूप है और उस पार प्रणय का एकदम निराकरण। किन्तु प्रणयी की और भी कुछ पवित्र इच्छाये होना स्वाभाविक है जिनसे उसके प्रणय का गौरव किसी प्रकार भी नहीं घटता। प्रेमी का सारा ज्ञान और दार्शनिकता अपने प्यारे की एक दृष्टि के आगे काफूर हो जाती है, और तब वह पाता है कि उन दो नयनो के आगे वह कितना कमजोर है।

अपने उच्चतम स्तर पर प्रेम मे से अधिकार की भावना का एकदम लोप हो जाता है—प्रेम मानो अपने को बिखेर देता है। अधिकार की भावना का लोप हो जाने पर ईर्ष्या आदि के लिए भी वहॉ स्थान नहीं रह जाता। प्रियतम से सम्बन्धित सारी वस्तुऍ—यहॉं तक कि हमारे प्रियतम को प्यार करने वाला प्रतिद्वन्द्वी भी हमे प्यारा हो जाता है। हम जिसे प्यार करें, उसे कोई दूसरा भी प्यार करे, इससे बढ कर सात्विक सुख की बात और कौन सी हो सकती है? प्रेम की चरम परिणति प्रियतम के सुख की भावना में ही है और उस दशा मे प्रणयी के सुख-दु:ख प्रियतम के सुख-दु:खो से मानो एकाकार हो जाते हैं। विवाह आदि सामाजिक सस्कार इस दशा मे नगण्य होते हैं। किन्तु इनसे प्रणयी के मन में क्लेश नहीं होता—सो बात भी नहीं। हॉ, इस क्लेश का कारण ईर्ष्या न हो कर वह आशङ्का होती है जो अपनी प्यारी चीज को किसी अजनबी के हाथो जाते देख कर होती है। कहीं उसकी प्रिय वस्तु के साथ असावधानी तो नहीं होगी,—यही एक आशङ्का है जिसके

हम सोचते हैं—अवश्य ही ये प्रेम के प्रलापी किसी अजायबघर मे रखे जाने योग्य विचित्र जन्तु हैं।

नारी और पुरुष का यह चिरन्तन आकर्षण एक आधारभूत सत्य है जिसे कोई भी युग और कैसी भी परिस्थितियाँ झूठा नहीं कर सकती। यहाँ जब मैं नारी शब्द का प्रयोग करता हूँ तो एक विशेष अर्थ मे। दुनियाँ की प्रत्येक मादा माता के गर्भ से किन्ही विशेष अग-प्रत्यगो को लेकर पैदा होने के कारण ही नारी कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो सकती। जिन जन्तुओ के मुख पर मूँछें नही होती और जिनकी छाती तनिक उभरी हुई होती है, वे सभी नारी हैं—ऐसा मानने में मुझे आपत्ति है। मादा और नारी दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। नारी के आगे पुरुष की सारी परुषता न जाने किस अतल में विलीन हो जाती है। इतना ही नहीं, प्रेम की चरम सीमा पार करके नारी के आगे पुरुष स्वय ही नारी बन जाता है, और आत्म-समर्पण के कुछ अनमोल क्षणो मे वह नारी को पुरुष जैसे सम्बोधनो से सम्बोधित करने लगता है। यह बात इतनी सत्य है, इतनी सत्य है, कि मैं कुछ-कह नहीं सकता!

एक बात और! प्रणय की रेखाये गहरी होने पर प्रेमी के लिये प्रणयिनी केवल प्रेयसी भर नही रह जाती, प्रत्युत नारी के सभी सम्भावित रूपो में—बहिन, माँ और यहाँ तक कि देवी बनकर भी—उद्भासित हो उठती है। प्रेयसी? प्रेयसी शब्द का विस्तार मुझे लगता है जैसे बहुत ही संकुचित है। प्रणयिनी का प्रेयसी-रूप उसके प्यार के विशाल प्रागण को ढकने मे अवश्य ही बहुत कुछ ओछा पड़ेगा। अत. यदि प्रेमी अपनी प्रणयिनी को कभी माँ कहकर सम्बोधित कर उठता है तो इसमे चौकने की कौन सी बात है? प्रणय की निराली दुनिया मे इस दुनियाँ के रूढिवादी नियम लागू नहीं होते। एक क्षण पहिले जो एक भोली-भाली असमर्थ निरीह बालिका के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होती है, वही दूसरे क्षण सर्वशक्तिशालिनी देवी के रूप मे भी। जिसकी अनन्त शक्ति के कारण हमारा सारा जीवन और सारे कार्यकलाप परिचालित होते रहते हैं, उसी के विषय मे हम सोचने लगते हैं—आह! वह तो निरी बच्ची है! इतना विशाल है प्रणयिनी का अन्तिम रूप!

महती भावनाओ और अनुभूतियो की एक धुँधली सी प्रतिच्छाया मात्र है—एक असफल सी अभिव्यक्ति। सारी कला कृत्रिम हैं। कुछ करूँ अथवा लिखूँ—इस विचार के साथ ही साथ अन्तर के कुहासे मे मस्तिष्क का प्रवेश हो जाता है। कलम की नोक पर उतरते उतरते भावनाओ की नव्वे प्रतिशत गहनता विच्छिन्न हो जाती है और जो कुछ शेष रह जाता है, उसकी भी एक धुँधली सी प्रतिकृति मात्र साहित्य में—कविता मे—शब्दो मे व्यक्त हो पाती है।

'धुएँ के धव्वे' मे सग्रहीत रचनाएँ मेरे किशोर जीवन के कुछ बोलते हुए क्षणो की कुछ ऐसी ही झाँकियाँ मात्र हैं। जीवन के अन्तस्तल में भाव-जगत के गहरे मर्मान्तक अनुभव के रूप में जो कुछ भी मैने खोया-पाया है, उसका एक बहुत ही धुँधला सा शाब्दिक चित्रण इन रचनाओ मे मिलेगा। एक सुदृढ और अडिग केन्द्र के चारो ओर ये कविताएँ घूमती हैं और इस कारण इनमें कल्पना की उड़ान उतनी न मिल सकेगी जितनी अनुभूति की सच्चाई और गहराई। किशोरावस्था की कोमल पृष्ठभूमि में ही इन कविताओ का कोमल अकुर प्रस्फुटित हुआ है। मार्क्स और देवली के बन्दी से आदि कविताएँ जानबूझकर इस सग्रह में नहीं दी गई हैं। सम्भव है, 'धुएँ के धव्वे' नाम से बहुतो को चिढ हो, पर धुँए के धव्बो में भी सौन्दर्य देखने की अपनी आदत के कारण मैं लाचार हूँ। कविताओ की अच्छाई-बुराई के विषय में मुझे कुछ भी नहीं कहना है।

एक दिन मेरी यह इच्छा अवश्य थी कि 'धुएँ के धव्बे' प्रकाशित हो। आज का दिन आते-आते वह इच्छा मर चुकी है। पर चूँकि पुस्तक के प्रकाशन का सम्बन्ध लेखक की इच्छा-अनिच्छा के अतिरिक्त स्याही कागज़ और कम्पोज़ीटरो से भी होता है, इस कारण पुस्तक का प्रकाशित होना अनिवार्य हो गया है—यद्यपि इसके पूर्व-नियोजित और वर्तमान स्वरूप में बहुत कुछ अतर है।

मेरी बात अब खत्म होने आई। यदि कहीं कोई धृष्टता होगई हो तो क्षमा चाहता हूँ। गलतियाँ मुझसे होती रही हैं—यह मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु भावना-मूलक विश्वास की याद दिला देना चाहता

अपनी क्रूर ममतामयी को —

समर्पण-गीत

एक बार नाचलो।

लिपट रहे चरणों से

ढीठ गीत नूपुर बन;

खोल श्याम केश-पाश,

एक बार दुनियाँ की आँख बचा नाचलो।

एक बार नाचलो।

लाज यदि लगे तो तुम

फेर लो नयन-खंजन;

किन्तु हों सनाथ गीत,

गा न सको, एक बार रूम-झूम नाचलो।

एक बार नाचलो।

दो विहंगम

[जीवन के प्रभात में गीत के ये दो विहगम कल्पना के सहारे सहारे उड़ चले थे। भाग्य की आँधी ने उन्हें अलग कर दिया। पर इतने से भी उनका उत्साह मानो हार मानना नही चाहता। आज भी उनकी उडान मे कोई अन्तर नहीं, यद्यपि वे एक दूसरे को धुएँ के धब्बे से अधिक नहीं देख पाते।]

एक दिन योंही, न जाने क्यों, विसुध वन
उड दिये अज्ञात दिशि में दो विहगम !

बह चली शीतल नशीली वात,
नींद की माती पुतलियों में जगा नव प्रात,
राग रग-रग में रँगा सा,
छा गया अनजान, अपने आप नस-नस मे नशा सा,
चूम ऊषा का सुनहला गात सहसा
उड चले सँग सँग गगन में दो विहगम !

नियति का पढ कर तभी भ्रूभग,
निमिष में मध्याह्न उठ बैठा—कराल भुजंग,
झुलस डाले नयन झुँझला,
फाड कर मुख, विहग-बालों का सुरीला गान निगला;
खो नयन, बेवस भटक, होकर अलग भी
उड बढ़े तव अग्नि-पथ पर दो विहंगम !

मेरा क्या ?

[व्योममंडल में मँडराती एक नीरभरी बदली थी और समुद्र-तल पर तिरता हुआ एक रिक्त सीप । बदली बरस पडी , एक बूँद सीप ने भी पाई, जो उसके अंतर मे आकर मोती बन गई । अब प्रश्न यह है कि वह मोती किसका है ?— उस क्षुद्र खोखले सीप का, अथवा उस दयाशील नीरभरी बदली का ।]

तुम्हीं मुझे वरदान !

मेरा क्या ?

ओ प्राणो की प्राण !

मेरा क्या ?

मुझ भिक्षुक का अतुलित वैभव

सभी तुम्हारा दान !

मेरा क्या ?

ओ प्राणो की प्राण !

मेरा क्या ?

एक दिवस सारस के

पंखों सी उजली

तुम नभ मे बन आईं

नीरभरी बदली ।

मै तिर आया रिक्त सीप

सागर-तल पर ;

निर्निमेष देखा तुमको

आँखें भर-भर ।

प्रकाशक
विठ्ठलदास गुप्त, व्यवस्थापक
पुस्तक-भवन,
बनारस।

प्रथम संस्करण
२००० प्रति
मूल्य २॥)

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल
टाइम-टेबुल प्रेस,
बनारस।

मेरे मन !

[यदि इस मन के कारण ही वह नन्हा सा मन दुखे, तो फिर धिक्कार है इसको ! इसे जान लेना चाहिये कि इसके नयन-कोरकों से झाँकते हुए अश्रु-बिन्दु भी इसके अंतर्यामी के मन को पीड़ा पहुँचा सकते हैं ।]

मेरे मन !

मेरे मन ! तेरे कारण दुखे न पलभर प्रिय का मन !

पलकों के बाहर मत छलको मेरे नयनों के जल-बिन्दु !

पीला पड़ न जाय सहसा ही प्रियतम का सस्मित मुख-इन्दु !

देख तुम्हें,

देख तुम्हें, भर आयें न कहीं वे उज्ज्वल नलिन-नयन !

अधरों के बाहर मत निकलो अंतर के गीले उच्छ्वास !

छू तुमको हो जाय न धुँधला प्रिय का खुला-धुला आकाश !

घुट-घुट कर,

घुट-घुट कर, अपने में ही अंतर्हित कर दो क्रन्दन !

रोओ के बाहर मत बिखरो मेरी पीड़ा के आभास !

छिप न जाय घन-अंधकार मे प्रिय के मुख का विद्युत-हास !

असमय ही,

असमय ही, मुरझाये न कहीं नव-मुकुलित चम्पक-तन !

कमल-दलो सी मृदु हथेलियों की मेंहदी का मादक रंग !

कभी न धुल पाये मेरे मन ! मिल तेरे सुधि-जल के संग !

वह सुधि बन !

वह सुधि बन ! हर्ष-पुलक से छा दे प्रियतम के तन-मन !

[जनवरी, '४३

चलो, हटो भी !

[गुलाबी गालों पर कल्पना के कोमल करों की एक हलकी सी चपत, और साथ ही दो शब्द—"चलो, हटो भी,–हो चुका तुमसे !"—इस मादकता की बाँकी झाँकी की भी किसी से समता हो सकती है ?]

चलो, हटो भी !
सुलझा चुकीं बहुत तुम
काँटों में उलझा साडी का छोर !

नहीं जानती—
बने न इसके लिये
फली सी दुबली-पतली
कोमल, मृदुल अँगुलियों के ये नन्हे-नन्हे पोर !

छेद दिया यदि कहीं
एक काँटे ने भी
यह नरम नरम सा गात
निकल पड़ेगी प्यारे प्यारे अधरों से टकराकर
अस्फुट सी सीकारी
बेबस सी 'सी'
अनायास ही रोम-रोम को पीड़ा से झकझोर !

चलो, हटो भी !
सुलझा लिया बहुत तुमने
काँटो में उलझा साड़ी का यह छोर !

प्रिय को अतीत सुधियो के जग से कर विमुक्त
चिन्ता-विहीन, निद्रा-प्रदेश में ले जाता हौले हौले ;
अणु-अणु मे निद्रा लहरा उठती,
सो जाते तृण-तृण,
पलक मूँदता जगमग जगमग वसुधा का कण-कण !
होता मै भी यदि चन्द्र-किरण !

नभ सी शैया पर नभ-गंगा सी तन्वंगी
लेटी होती प्रिय जब सुख-स्वप्नो में विभोर,
कँप-कँप उठते विकसित गुलाब की
मधुआप्लावित पंखुड़ियों से अधर-ओठ ;
मुक्ता सी पुतली छिपा मुँदी होती सीपी सी दो पलके,
फैली होतीं निस्पन्द, निरावृत, गोल-गोल गोरी गोरी,
लम्बी मृणाल सी, चम्पक वरणी दो बाहें ;
प्रत्येक श्वास पर गिरता-उठता वक्ष-देश,
मुख चूम-चूम कर झूम-झूम उठते रह रह
उन्मुक्त हठीले ढीठ केश ;
तब लिपट प्रिया के लचकीले मृदु अंगो से
बाँहो मे भर अम्लान चाँदनी सी ग्रीवा,
पीता कुछ क्षण, जी भर भर कर
मधुमय प्यालों से छल-छल बहता अधरासव ;
संगमरमर से चिकने, उजले, उभरे उरोज
पर सर रख कर सुनता रहता
अपनी अन्तरवासिनि के अन्तर-तम का रव ;
बन मिलन-स्वप्न की लडी उतरता
सुप्त पुतलियो के भीतर,
चिर विरह-मधुर तममयी सृष्टि

चाँदनी में

[पिछले पहर की चाँदनी की मोह माया सबके नयनों में निद्रा और स्वप्न बन कर उतर चुकी है। पर यह क्या कि किसी अभागे के साथ चाँदनी भी अन्याय करे ?]

रात के पिछले पहर की चाँदनी में
सो रहे निस्पन्द, नीरव धूल के कण !

नींद में बेसुध धरा का गात
झिलमिलाती चाँदनी ने ढक लिया अज्ञात,
मौन तारक, मौन अम्बर,
मौन मानव के हृदय का हास-रोदन, करुण-ज्वर,
ओढ़ फेनिल दुग्ध सा पट चाँदनी का
शान्त योगी से खड़े दृग मूँद तरुगण !

कर रहा अब श्रान्ति का परिहार
बाहु में भर, चाँदनी से लिपट सो संसार,
देखते सुख-स्वप्न पल्लव,
नीड़ में लय हो गया शत-शत विहंगों का मुखर रव
देखता इकटक लजीली चाँदनी को
भूल निज अस्तित्व, हो निश्चल समीरण !

चाँदनी में

[पिछले पहर की चादनी की मोह माया सबके नयनो म निद्रा और स्वप्न बन कर उतर चुकी है। पर यह क्या कि किसी अभागे के साथ चाँदनी भी अन्याय करे ?]

रात के पिछले पहर की चाँदनी में
सो रहे निस्पन्द, नीरव धूल के कण !

नीद में बेसुध धरा का गात
झिलमिलाती चाँदनी ने ढक लिया अज्ञात,
मौन तारक, मौन अम्बर,
मौन मानव के हृदय का हास-रोदन, करुण-बर्बर,
ओढ़ फेनिल दुग्ध सा पट चाँदनी का
शान्त योगी से खड़े दृग मूँद तरुगण !

कर रहा अब श्रान्ति का परिहार
बाहु मे भर, चाँदनी से लिपट सो संसार,
देखते सुख-स्वप्न पल्लव,
नीड़ मे लय हो गया शत-शत विहंगों का मुखर रव
देखता इकटक लजीली चाँदनी को
भूल निज अस्तित्व, हो निश्चल समीरण !

कपोती

[सीमाहीन आकाश में निरंतर उडकर भी जब कुछ न पाया तब थकी-मॉदी कपोती धराशायी होकर छटपटाने लगी। श्यामघन से टूटे हुए तारे की तरह कपोत को आते देखा, तो वह बस देखती ही रह गई। युगो का अंतर सिकुडकर मानो उस एक पल भर में समा गया।]

स्निग्ध शशि के हास सी, उज्ज्वल जुही सी,
श्वेत संगमरमर सदृश थी वह कपोती !

दे युगो के विरह का उपहार
उड़ रही थी दूर-वासिनि दृष्टि-पथ के पार,
दूर दिशि-दिशि को भिगोती,
नीड के बिखरे तृणो को खोजती, फिर-फिर सॅजोती,
मूक दीपक की शिखा सी, सजल घन सी
तरल निर्झरिणी सदृश थी वह कपोती !

चिर-अमा के गहन तम को देख
श्याम घन में खिच गई अनजान विद्युत-रेख,
मिल गई पथ पर कपोती,
चिर-विरह की माल मे जैसे मिलन-मोती पिरोती,
भव्य राका की झुकन सी, नव उषा सी,
दीप्त स्वर्णिम घन सदृश थी वह कपोती !

ऐसा कल क्या ?

[कल का देखा हुआ सपना किसे याद रहता है ? आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, सभी उसे भूल जाते हैं। पर उस सपने की याद तो न कभी भूलती है, न धुँधली होती है और न पुरानी ही होती है !]

पल भर ही में तो
कुछ से कुछ हो जाता है,
मन का अभाव खो जाता है,
हो जाती है नभ में विलीन उत्तप्त आह !

दो दिन ही में बस
कल ओझल हो जाता है,
झट वर्तमान धूमिल अतीत बन जाता है,
खो जाती है, सो जाती है मानव के मन की मूक चाह !

युग-युग बीते पर
यह मन क्यों भर आता है ?
ऐसा कल क्या जो नित्य आज में वही रंग भर जाता है ?
जग जाती है, कलपाती है, बिलखाती है जाने क्यों चिरपरिचित कराह ?

[फरवरी, '४२

सिसकियों से भर गया आकाश,
सुबकियों से कँप रहा रह रह धरा का गात,
घुल रही लो सिसकियो में, सुबकियो में मूक सावन की सलोनी रात!

क्यो सिसकती ओ नशीली रात?
क्यो सुबकती बालकों सी ओ लजीली रात?
पोछ दृगजल, बाँध साहस, धीर धर, बतला मुझे अपने हृदय की बात!

एक मै भी तो खड़ा पाषाण!
देख! मैं भी तो खड़ा नीरस, अडिग पाषाण!
सिसकियो को, सुबकियों को सोख अब तो बन गया हिमवान् से चट्टान!

देख! यह घर का प्रवासी आज
रोदता पैरों चले चुन-चुन प्रबलतम चाह,
काँच की भट्टी बना अंतर सुलगता, पर न ओठों से निकलती आह!

कौन सुनता है किसी की बात?
व्यर्थ मत रह रह सुबक उन्मादिनी अज्ञात!
सीख कुछ तो मुझ अभागे से अरी ओ मौन सावन की अभागिन रात!

शून्य दृग ये—आर्द्र बहती वात,
मै अटल निश्चल—सिहरते, काँपते तरु-पात,
एक हैं! फिर भी सदा हम एकही है—
मै वियोगी और सावन की वियोगिन—रात!

[अगस्त, '४२

क्या न होती है सभी को पीर ?
क्या न चुभता है सभी के तीक्ष्ण विष सा तीर ?
भूल जाते हैं सभी थक,
पर न जाने क्या घुलाता जा रहा तुझको अभी तक ?
और कुछ होगा नहीं, तू मर मिटेगा,
जग हँसेगा खिलखिला फिर !

[नवम्बर, '४१

|||

साँझ आई !

[सुनहली किरणें भी उदास होगई, दिगदिगन्त अंधकार के आवरण में ढक गया। बेबसी से भरे कवि के ओठों से एक उफ निकलकर शून्य में न जाने कहाँ विलीन हो गई। फिर भी जैसे चौंक कर उसने पहिचाना कि साँझ आई है।]

साँझ आई !
मौन स्वर भर,
वेदना से सुप्त सा सौन्दर्य लेकर,
आज भी
उन्मादिनी, अभिमानिनी सी
बादलों के लोक से सहसा उतर कर,
साँझ आई !

दूर
पश्चिम के क्षितिज पर
खिच रहीं रंगीन रेखाएँ अनेकों
टूटती सी।
जल रही रक्तिम चिता सी
बुझ रही जो
दूसरे क्षण,
दूसरे पल,
भाग्य के फूटे प्रवासी की उमंगों के सदृश ही।
उड रहे हैं
एक या दो

काले फूल

[काले फूलों का नाम सुन कर (बिखरे फूलों की तरह) चौंकना ठीक न होगा। उनके काले रंग का एक अपना इतिहास है और उन दोनों की एक लम्बी कहानी है।]

किसी झुरमुट मे खिले थे स्याह काले फूल दो;
एक टहनी में बिधे थे, बँध परस्पर, एक हो।
थपथपा तन, गुदगुदा मन, वायु यो गाती रही—
"एक रँग में रँग गये दोनों कुसुम लो, देख लो !"

स्याह काले फूल फुनगी पर लगे जब थिरकने,
बिखर, वन के रँगबिरंगे फूल भूतल पर गिरे।
वायु का मन्थर झकोरा घूम फिर यो कह गया—
"पड़ गये फ़ीके अमित रँग एक रँग के सामने !"

कुपित बिखरे फूल बोले थाम अचल वायु से—
"खीझ हम पर, रीझ उन पर नासमझ ! यों क्यो बहे ?
एक हम बिखरे कुसुम ! काले कुसुम वे दूसरे—
देख जिनको श्वेत उज्ज्वल बाज, बगुले तक हँसे !

सुख, सुरभि, सौन्दर्य्य में चिर रक, मन के मैल सा,
शोक-सूचक, अशुभ काला रंग भी किस काम का ?"
हिलीं फुनगीं, डाल डोलीं, पत्र सिहरे अनमने;
वायु की उन्मुक्त श्वासो ने ध्वनित हो यो कहा—

कारवाँ

[कसाई के साथ जाती हुई गाय की जो मनोदशा होती है वही मनोदशा अपनी मंजिल पर बढ़नेवाले इस कारवाँ की भी हुई। किन्तु क्या वह अपने साधहीन साधना-पथ पर एक डग भी बढ सका ?---इसका उत्तर आगे चलकर समय ने दिया।]

बढ़ चला लो कारवाँ पग डगमगाता,

देख भी लो !

घूम फिर फिर, घूम फिर फिर घूम,
देखती घर के मुँदे पट घूम फिर फिर घूम,
ज्यों कसाई साथ जाती
गाय रुक रुक अति विवश हो, घूम फिर फिर पग बढाती,
बढ चला लो कारवाँ रह रह मचलता,

देख भी लो !

साध खो कर साधना तल्लीन,
छोड जल ज्यों आग को देती निमंत्रण मीन,
भूल बीती बात सारी,
पी रहा अब मौन साधक—मदिर दिवसों की खुमारी,
बढ चला लो कारवाँ मन से झगड़ता,

देख भी लो !

उन नयनों का मैं चिर-बन्दी !

मेरी तुम ! मैंने मान लिया—

तुम चिर-विजयिन, मै चिर-परास्त !

सोचता था—कर दिया मन चूर,

चाह कलियों सी कुचल डालीं, बना अति क्रूर,

चाह मिलने की न बाकी,

साध खोकर साधना-पथ पर चला—यह कल्पना की,

उन नयनों को मैं भूल गया !

कितना भारी दुस्साहस था !

तुम चिर-विजयिन, मैं चिर-परास्त !

बात वैसे स्वप्न की है बात,

किन्तु कितना सत्य मानव को सिखाती रात !

सत्य ही मुझको सिखाया—

रात ने कुछ पल सुला कर कोटि युग-युग को जगाया—

उन नयनों को मैं जान गया !

मै जान गया ऐ मायाविन !

तुम चिर-विजयिन, मै चिर-परास्त !

कैसे ?

[याद करना और भूलना तो उनके लिये है जो याद कर सकते है और भूल सकते हे । पर जिसके जीवन की डोर ही किसी से बँधी हो वह न तो याद ही कर सकता ह और न भूल ही सकता है ।]

कैसे भूल सकूँगा अरुणे ! नयनों की भाषा का प्यार ?

रजनी अम्बर-पथ पर करती
जब अगणित दीपों का दान,
सहसा मेरे प्राणों मे भी
जग उठता भूला सा गान,

पर जीवन के धुँधले क्षण मे
भूल गया पहिला सा राग,
अरे ! आज तो गा लेता हूँ
टूटे स्वर मे करुण विहाग,

कैसे तुम्हे बताऊँ कविते ! अपनी कविता का आधार ?

तुहिन-बिन्दु बिखराती वसुधा
जब भर कर अनगिन उच्छ्वास,
सहसा आता याद मुझे भी
बीते जीवन का उल्लास,

पर इस एकाकी जीवन मे
कहाँ रहा पहिला उन्माद ?
हा ! अतीत के चित्र सुनहले
भर जाते नूतन अवसाद !

कैसे तुम्हें सुनाऊँ मानिन ! मूक हृदय का हाहाकार ?

वह भी है !

[जीवन क्या है ?—एक लम्वा सा रास्ता जिस पर न जाने कितने राहगीर आते है और चले जाते हैं। उनको हमारी ओर आँख उठा कर देखने तक की फुरसत नहीं होती , कुछ हमारे जीवन के बाहरी पर्त को बस छू भर जाते हैं। हाँ, कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका मिलना अनिवार्य्य सा ही होता है—मानो वे न होते तो हमारा जीवन ही कुछ और होता। पर इन सबके बाद एक वह भी है .]

जीवन-पथ पर कितने आते—कितने जाते !
पर वह भी है
जो घेरघार कर बैठ गया सारा जीवन !

यों तो पथ पर चलते अनेक,
मिलते अनेक,
पर सब होते अपने अपने पथ के राही,
अपनी अपनी चिन्ताओं से जर्जर, मलीन।
अवकाश कहाँ इतना उनको ?—
सुधि होती है इतनी किसको ?—
जो देख किसी की ओर सकें,
जो पूछ सकें भी बात दूसरे के मन की।

वे भी होते
जो मिलने भर को मिल जाते,
मिल, पलभर में आँखों से ओझल हो जाते,
मिलना, विछोह दोनों जिनके होते समान।
जीवन को वे छू भर जाते,

अंतिम साँसो तक उसके प्रति मन में उठता
सागर अथाह ।
रह दूर दूर
जितना समीप वह रह पाता,
रह रह समीप
उतने ही दूर चले जाते सब राहगीर ।
पल भर के परिचय के आगे,
पल भर के परिचित के आगे,
उस पूर्ण अपरिचित के आगे,
हो जाते युग-युग के परिचय, चिरपरिचित भी पल में नगन्य ।
क्षण दो क्षण के ही परिचय में
जितना समीप वह आ जाता,
उतने ही दूर बने रहते शत-शत युग के परिचित अनन्य ।
वह मनभाया
मिल एक बार, होता न क्षणों को कभी दूर,
उसके आगे सारी साधें, सारी आशायें चूर-चूर ।
बस ऐसा ही, ऐसा ही बस
मेरे जीवन का भी साथी
जिसकी इंगित पर न्यौछावर मेरे तन-मन—मेरा जीवन ।

जीवन-पथ पर कितने आते—कितने जाते ।
पर वह भी है
जो घेरघार कर बैठ गया सारा जीवन !

खँडहरों की आह सा बेजान,
साँस गिनता, बस घड़ी-दो घडी का मेहमान
सोचता सा—अब चला अब,
धराशायी, चिर-पुरातन फूस का घर लुट रहा जब,
देख कर जग की हँसी विद्रूप, भीषण,
क्यों नहीं पत्थर हुआ तू भी ?

[अक्टूबर, '४१

नाराज हूँ—प्रश्न सो बिलकुल भी नही है। प्रश्न तो यह है कि क्या ऐसा है मुझमें जो लोगो को यह सब कहने-सुनने को बाध्य करता है ! कुछ तो है ही ! इस 'कुछ' को जब मैं अपने में खोजने का प्रयास करता हूँ, तो पाता हूँ कि यह 'कुछ' उस अनोखी दुनियाँ के प्रति मेरी रुझान है जिसे हम मन की दुनियाँ कहते हैं, जिसे हमारी रुपये-आने-पाई की दुनियाँ की कटुता तथा व्यावहारिकता नही छू पातीं, और जिसकी दीवालें ईट और चूने की न हो कर सौन्दर्य, प्रेम, आत्म-समर्पण तथा एकान्त साधना से बनी होती हैं। एक हैं जो इस रुझान को तनिक सहानुभूति-पूर्ण आँखो से देखते हैं और मुझे 'विजन वन का राजकुमार' कह उठते हैं ! दूसरे हैं जो इस रुझान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और चट से 'कापालिक' की पदवी प्रदान कर देते हैं। बस इतना ही है जो मै इन उपाधियो से समझ सकता हूँ !

इस दुनियाँ से परे का जीव हूँ—यह बात भी नहीं है। और लोगो की तरह मुझे भी नीद-भूख लगती है, मैं भी खाता-सोता हूँ। रुपया, आना, पाई की तथा ईट और चूने की दीवालो की मुझे भी उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी और किसी को। यदि मैं भौतिक ससार अथवा स्थूल सत्य से इन्कार करूँ, तो मुझसे बड़ा झूठा और आत्म-प्रवंचक शायद ही कोई हो ! बात केवल इतनी सी है कि प्रयत्न करने पर भी मैं यह नहीं भूल पाता कि स्थूल सत्यो से विर्निमित भौतिक ससार मे ही संसार की सम्पूर्णता और सत्यता सीमित नही—उसके आगे भी बहुत कुछ है। उस 'बहुत कुछ' की ओर से साधारण दुनियादार आदमी एक प्रकार से आँखे मूँदे रहता है, उसे इतना अवकाश ही नही रहता कि उस अप्रतिम सौन्दर्यमयी तथा असाधारण रहस्यमयी दुनियाँ की ओर आँख उठा कर भी देखे। किन्तु मैं—मैं न जाने क्यो ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ !

जो सूक्ष्म संसार लोगो की आँखो से ओझल रहा आता है और भूले-भटके दृष्टि-पथ मे आने पर जिसे लोग 'हुह' करके उड़ा देते हैं, वही मेरे लिए भावुकता से परे आज इतना प्रत्यक्ष—इतना स्थूल हो उठा है कि एकबार वस्तुजगत का स्थूल भी उसके आगे कुछ नहीं। दीवाल से

मरुवासी क्यों विकल हृदय ले स्वप्न देखता हो! निर्झर के?
उसका तो जीवन ही जलना, बस जलना ही ठहर - ठहर के।
एक उचटती सी झपकी के कारण युग - युग जगना होता।
यहाँ कहाँ है तृप्ति?—उड़ चला शून्य गगन में पक्षी रोता।
सो जाते हैं स्वप्न सदा ही छोड दर्द से भरी निशानी।
अरे! अधूरी पड़ी हुई हैं जग - जीवन की सभी कहानी।
जली चिता पर क्षीण धूम - रेखा सा जीवन तू अपनाले!
किसकी प्यास बुझ चली पगले? अब अंतर में आग बसाले!

[अगस्त, '४०

एक अभागे से अंधड़ मे उडे सभी अरमान सुनहले।
बिखर गये सब स्वप्न—चूर हो गये सत्य होने से पहिले।
लगा भटकने बूँद बूँद पानी को रे! क्षणभर में पावस।
शरच्चन्द्र का हास बन गया, पलक मारते, घोर अमावस।
आँखमिचौनी थी जीवन की, टूट गया आधा सा सपना—
जगती का कटुसत्य लगा करने हा! तांडव नर्तन अपना।
दलित कुसुम सा है यह जीवन—तपने लगी धरा सावन में।
धू-धू कर जल उठी चिताएँ, प्यासे बादल घिरे गगन में।

[अगस्त, '४०

बूँद गिरीं—
बूँद गिरीं, घन-दृग सी गीली रात हुई।
दृग छलके—
दृग छलके, छलछल, छलछल बरसात हुई।

तरु सिहरे—
तरु सिहरे, टहनी टहनी झुक झूल चुकी।
श्वास रुँधी—
श्वास रुँधी, चेतनता सब कुछ भूल चुकी।

रात झुकी—
रात झुकी, सन्ध्या जाने किस ओर गई ?
कौन छिपी—
कौन छिपी, रह रह, रग रग झकझोर गई ?

[अगस्त, '४२

रुक नही पाती उफनती पीर,
रुक नहीं पाता तनिक भी तरल अविरल नीर,
दृगों में सावन बसाता,
हृदय में विस्तृत उमस-सागर छिपाता,
क्यों सदा प्यासा स्वयं वारिद प्रवासी—कौन जाने ?

कौन जाने चिर तृषा का मोल—
नीरवासी विकल नयनों की तृषा का मोल—
पगले कौन जाने ?

[फरवरी, '४१

हुआ अंतर्दाह पूर्ण, अथाह,
वेदना छलकी तरल 'छल-छल' दृगो की राह,
चू पड़े नभ के नयन भी,
साथ कुछ क्षण तक हुई बरसात, संवेदन-रुदन भी,
बरसते यद्यपि नयन-घन तो अभी तक,
पर कभी का थक थमा तज संग गगन भी।

[जनवरी, '४२

चिरअमा में ढूँढ़ता क्या आज अन्धा सा भिखारी ?
क्या सुखी भी हो सकेगा वेदना का चिर - पुजारी ?

किस तृषा को तृप्त करना चाहता है मरु - निवासी ?
किस मिलन की साध को ले जल रहा निशि-दिन प्रवासी ?

[अक्टूबर, '४०

दूर, निर्जन से विजन में चौंक उठता सुप्त पीपल ;
नग्न पतली सी लताएँ झाड़ देतीं पत्र प्रतिपल।
टूटकर तारा चला नभ से, गिरा तममय धरा पर।
साँस अंतिम ले रहा थककर विहंगम शिथिल, जर्जर।
सोचती सी कुछ खड़ी है मूर्तिवत् नीरव दिशायें।
इस मचलती सी अमा में सिसकतीं अगणित निशायें।
चिर अपरिचित आज केवल एक पथ मुझको बताता—
मौन होजा रे अभागे! व्यर्थ अब क्यों गुनगुनाता?

रुद्ध जीवन बह रहा है आज योंही अनमना सा।
एक युग से जग रही है प्राण मे आकुल पिपासा।
श्रान्त रजनी झूलती है इस अँधेरे से हृदय में।
डूबता भी तो नहीं हूँ मै अभागा इस प्रलय में।
जीर्ण अंचल में सँजोऊँ कौन से अरमान अपने?
कौन सी आशा बची है? कोन से स्वर्णाभ सपने?
आज कोई कान पर आ मूक स्वर मे गीत गाता—
मौन होजा रे अभागे! व्यर्थ अब क्यों गुनगुनाता?

मै प्रतीक्षा का पुजारी एक क्षण को भी न सोया ;
आज आँखें है उनींदी किन्तु मेरा स्वप्न खोया।
चिरतृषा से अधर सूखे, बीन अब कैसे बजाऊँ?
उँगलियाँ ठिठुरीं शिशिर से, तार पर कैसे चलाऊँ?
गा रहा हूँ मै युगों से, किन्तु मेरा भग्न सा स्वर ;
लौट आती है प्रतिध्वनि चूम कर विक्षिप्त खँडहर।
प्यास सा अभिशप्त जीवन आज मुझको यह सुझाता—
मौन होजा रे अभागे! व्यर्थ अब क्यों गुनगुनाता?

[मार्च, '४१

नील नभ के जगमगाते दीप,
भव्य निशि के हृदय-सागर के सुनहले सीप,
गर्व से निज सिर हिलाते,
भू-निवासी दीन, हीन, मलीन अणु-अणु को डराते,
धराशायी धूल-कण की देख पलकें आर्द्र,

तारे झर पड़ेंगे !

[अक्टूबर, '४१

सुन अभागों की व्यथा की यह कहानी,
हो उठा विचलित अचल मैं एक क्षण को !
किन्तु, बोला दूसरे ही क्षण सँभल कर,
कंठ मे संवेदना भर, साध मन को !—

"आह पगलो ! जिस प्रिया का नाम लेने
को विकल, आतुर तुम्हारी यह मुखरता,
सह न पायेगी वही नवनीत-पुतली
लोक-चर्चा के प्रहारों की प्रखरता !

लाज मे लिपटी लजीली सी प्रिया की बात सोचो !
इस निठुर संसार के सम्मुख न खोलो मर्म अपना !"

[जनवरी, '४३

जीवन का विक्रेता न कभी
इतना उदार,
जो छोड़ सके जीवन के ग्राहक मानव पर
कुछ भी उधार।
प्रतिक्षण, प्रतिपल,
प्रतिनिमिष, विपल,
दुर्वह ऋण से पिसते रहते मानव के दो दुर्बल कंधे।
कंधे ?— कंधे ही क्या ? सचमुच
रग, रोम रोम, मन, प्राण, कंठ, सारा शरीर, सारा मानव।

जीवन का सौदा अति मँहगा,
मँहगा अपार,
प्रत्येक साँस का मूल्य अमित देना पड़ता
मन मार मार;
कितनी मरीचिका ! कितना भ्रम !
जब सोच नहीं पाता मानव
जीवन का भी है मूल्य
चुकाना पड़ता जो
सचमुच, सँभाल, कौड़ी-कौड़ी, रत्ती-रत्ती।

कौड़ी रत्ती ?—
कौड़ी रत्ती होते तो
होती बात नहीं इतनी भारी !
सोने, चाँदी, ताँबे, कागज़ के टुकड़ों में
सामर्थ्य कहाँ जो मूल्य चुकाएँ जीवन का ?
सामर्थ्य कहाँ जो आँक सकें दुर्धर्ष भार मानव-मन का ?
जगती के चमकीले सिक्के,

न कोई उसे मन, सेर छटाकों में तोल ही सकता है! पर क्या इन दुनियावी मापदण्डो के अतिरिक्त और कोई मापदण्ड ही नहीं? क्या अन्तर का तराजू कोई तराजू ही नहीं? निरन्तर नीरव साधना से प्राप्त सौन्दर्य-दृष्टि और तपःपूत वैभव के आगे ससार के सारे वैभव फीके हैं—ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है!

व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर समाज में लय हो जाय—इस आदर्श का भी मेरी दृष्टि मे अत्यधिक मूल्य नही। समाज और सामाजिक रूढियो ने जिन जिन लकीरो मे जीवन और कर्तव्य को बॉध दिया है, उन्हीं चिर-परिचित लकीरो पर ऑख मूँदकर चले जाना ही क्या सामाजिक प्राणी हो जाना है? और जो तनिक भी इन लकीरो के इधर उधर हिलने डुलने का प्रयत्न करे, वही आसामाजिक अस्वस्थ प्राणी है? ऐसी सामाजिकता और स्वस्थता को, जो हमें शतरज के मोहरे अथवा कार्बन कॉपी बनाकर हमारे व्यक्तित्व को ही लूट ले, कम से कम मैं तो दूर से ही प्रणाम करता हूँ। सामाजिक स्वस्थता का ऐसा सकीर्ण आदर्श हमे उसी प्रगति की ओर ले जायेगा जिसे हम बहादुरी के साथ पीछे हटना कहते हैं। जिसदिन व्यक्ति व्यक्ति न रहकर टाइप बन जायेगा, उसीदिन सारे ससार में एक भयकर जहरीली प्राण-संघातक सड़ायॅध फैल जायेगी, और हमे सॉस लेना भी दूभर हो जायेगा!

जहॉ तक सरलता से जीवन-यापन अर्थात् जीवन को खत्म करने का प्रश्न है, इसमे कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक शतरजी मोहरा ही लाभ में रहेगा। जिसने दुनियॉ के बेसुरे राग मे राग मिलाना सीख लिया, उसे खाते पीते हुए मरजाने मे वास्तव मे बडा ही सुभीता रहेगा! कठिनाइयो के पहाड़ तो उसी के सर पर पड़ेगे जो समाज के कसाईखाने मे अपने व्यक्तित्व का बलिदान करने से इन्कार करेगा! अधिकतर तो दुनियॉ मे भेड़े ही पैदा होती हैं, शेष ऐसे होते हैं जो कठिनाइयो के नाम से ही घबड़ाकर अपना नाम भेड़ो मे लिखा देते हैं। किन्तु कुछ तो ऐसे होते ही हैं जिनका विद्रोह कठिनाइयो तथा अत्याचारो के बढने के साथ साथ तीव्रतर होता चला जाता है और जिनको भेड़ो मे मिलकर 'सरलता से खाते-पीते-मरजाने वाले जीवन' से अपना कठिनाइयो से भरा

अपने ही हाथों कर निज शोणित का तर्पण।

प्रत्येक साँस पर तड़प, तड़प,
छटपटा, छटपटा, सिसक, सिसक,
मृतप्राय मनुज पीड़ित हो हो जब जाता थक,
तब कायर बन
जैसे तैसे साँसें भरता;
छल अपने को
उलटा-सीधा समझा मनको जीवित रहता।

अपनी हारों को समझ विजय,
अपनी कमज़ोरी समझ शक्ति,
अपनी प्रवंचनाओं में फँस
जीवन यापन करता मनुष्य;
धीमे-धीमे,
जीवित रहने की साध बाँध
मानव अपने अंतर का भी करता विक्रय,
रह जाता फिर केवल जीवन का दम्भ, पूर्व मानव का शव।

तब सोचो तो
इतना मँहगा पडता क्या कुछ जितना जीवन ?
इतना भारी क्या अन्य मूल्य जितना निज मन ?
क्या ठगा गया कोई ग्राहक
जितना जवीन क्रय करने में
अनजान ठगा जाता निरीह, मानव निर्धन ?

बात-बात में !

[क्षण भर को भी किसी की जिन्दगी के साथ हँसी करना कितना क्रूर खेल है ! हँसी करनेवाला क्षण भर हँसकर चुप हो सकता है, पर जो बेचारा हँसी का शिकार होता है, उसके कानों में वह क्रूर हँसी जीवन पर्यन्त गूँजती रहती है ।]

बन जाती है बात-बात में बात सदा के लिये कहानी !

दिवा-निशा, संध्या-ऊषा आती जातीं ज्यों साँसें अनगिन !
रोते-हँसते किसी तरह कट ही जाते हैं जीवन के दिन !

कसक कसक उठती फिर भी अन्तिम हिचकी तक याद पुरानी !

विस्मृति के कर, दिवस-मास-वर्षों का ताना-बाना बुनबुन,
आहत मन को बहलाते ज्यों माँ बच्चे को गाने गुनगुन !

बात बीतती, पर न सूख पाता नयनों का खारा पानी !

क्षणभर का उन्माद किसी का, बरस अचानक ज्यों सावनघन,
बन युग-युग का शाप, लूट लेता गरीब का चिर-संचित धन !

घाव सूखता, पर मिट पाती नहीं दर्द से भरी निशानी !

[अक्टूबर, '४२

पर मेरा यह कैसा जीवन ?—
शत-शत युग से शत-शत युग तक
जो लिपट गया काली काली सी चादरमे !
जिस चादर में
रंगीन रश्मि का नाम नही !
रंगीन रश्मि की एक झलक का काम नही !

मेरे जीवन में एक बार उजड़ी बस्ती,
उजड़ी ऐसी फिर बसी नहीं !
मेरे मन के मिट्टी के पुतले की हस्ती—हस्ती ऐसी,
मिल एक बार, फिर मिटी नहीं !

[मार्च, '४२
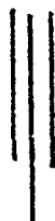
नीड जल-भुन कर हुआ सब क्षार,
अधजले-झुलसे तृणों का लग रहा अंबार,
प्राण-पंछी फिर उठेगा,
अधजले-झुलसे तृणों से नीड़ नव निर्मित करेगा;
याद कर कर सीख जायेगी किसी दिन
भूलना अपनी कथा मन की व्यथा भी !

[फरवरी, '४२

जीवन में जीवन था।
मानव के रंध्रों से—अगणित झरोखों से
जगती के देखने को यौवन भी आकुल था
वर्षों के प्रवासी की स्मृति सा;
कितनी कमनीयता थी मानव के इङ्गितों में!
कितना चापल्य था!
हास झूलता था उन भावभरी पुतलियों मे
जग के हँसाने को—रिझाने को।
रह रह कर मानव खिल उठता था
अपनी ही सफलता पर;
गूँज उठता था अंतरिक्ष में अनेक बार—
"जीवन अनिन्द्य चिर-हास है।"

जीवन के सुनहले क्षण!
किसको उन्मत्त नहीं करते?
किसमें मदिर झंझा नहीं भरते?
मानव भी मानव था—
अपनी उनींदी, भीनी, अधखुली आँखों से
जगती पर कर डाला स्वप्निल एक दृष्टिपात,
झाँका तनिक कनखियों से।
प्राची के क्षितिज से इतराते थे
ऊषा सुन्दरी के सुनहले बाल;
मानव को मानो नव-जीवन-सन्देश मिला।

उसी मदमाती मधु-वेला में
एक स्पन्दन हुआ,

हृदय जैसा प्यारा शब्द ही न था
जग के निराले शब्द-कोष में ।
कितनी विडम्बना की जग की करतूतो में !
कैसा क्रूर हास था !—
आकुल मिलन वेला में
जग की दीवाल खड़ी होगई ।

एक क्षण भर में कितना परिवर्तन था !—
लाज सी लजीली नई कोपलों ने
पतझर सम्पन्न किया ।
अधप्यासी, भोली सी, अर्ध-विकच कलियों को
हाय ! पाप-पुण्य की कसौटी निर्ममता ने
शीघ्र ही कुचल दिया ।
मानव के जीवन-इतिहास में
काला अध्याय आरम्भ हुआ ।

शहनाई बजती थी मानव के मन्दिर में,
यौवन का स्वागत-समारोह था;
इतने में वज्रपात !
क्रन्दन टकराने लगा
पगली सी, अंधी सी आँधी सा
मानव-हृदय की प्राचीरों से ।
धू-धू कर जलने लगीं अगणित चिताएँ भी,
जिनमें जलती थीं आशायें-अभिलाषायें
ऊंची ऊँची लपटों से ।
स्वप्नों, उमंगों का नन्दन सा क्रीड़ास्थल

फटे हुए जीर्ण-शीर्ण अंचल मे
टिकता नहीं था अधूरा सपना भी वह
जिसको कभी मानव ने देखा था।

सरिता के खोखले कगारो सा मानव अब
जीवन के शेष दिन गिनता था
अपने दुर्भाग्य-हिलकोरो को चूमता।
आँखों का सूना सा सावन बन
अंतिम उच्छ्वासों से झरता था
जीवित ही अपनी समाधि पर;
अंतिम बार गाता था
जीवन का सोया सा सान्ध्य-गीत।

[जुलाई, '४०

विदा के पहिले

[यह विदा-गीत और किसी की आँखों का गरूर किसी दिन इतने सत्य हो उठेंगे—ऐसा तो सोचा भी न था ! किन्तु आज जो सत्य है, उसकी आज अवहेलना भी तो नहीं की जा सकती ! सभी बिछुड़ने वालो के कठो में इस विदा-गीत का प्यार भरा स्वर गूँज उठे—इसी में इसकी सार्थकता है !]

तुम उड़ो गगन में निस्तरंग मेरे विहंग !
पर भूल न जाना मधुवन की वह डाल
झूल जिस पर चहके हम सग-संग !

ओ मुक्त-गगन-पथगामी ! तुम उड़ चले दूर !
भर रहा तुम्हारी पाँखों में नव-जीवन, आँखों मे ग़रूर !

तुम चले ! किन्तु क्या नहीं तनिक भी तुम्हे ध्यान ?
दे रहा कहीं कोई भीगे नयनो से तुमको अर्घ्यदान !

तुम चले ! चले तुम बना किसी को निपट दीन !
क्या जान सकोगे उस साथी की बात रहा जो पंख-हीन ?

उड़ चले आज तुम जिसे तड़पता यहीं छोड़,
पुतलियाँ उलट जायेंगी उसकी अचक किसी दिन साँस तोड़ !

तुम भुला उसे देना मेरे प्यारे विहंग !
पर भूल न जाना मधुवन की वह डाल
झूल जिस पर चहके तुम संग-संग !

[अप्रैल, '४३

अब न कर मन ! व्यर्थ कुछ भी चाह,
घूट दम, रह रह तड़प, मुँह से न निकले आह;
सुप्त सा ज्वालामुखी बन,
आग अंतर में जले, मुख पर न झलके स्वेद का कण;
सो सदा को मौन मन की बात ! पगली !
कौन है ? किसको सुनाऊँ ?

[दिसम्बर, '४१

अपने अभिलाषी नयनों के
घनश्याम द्वार मूँदो चाहे जितने कसकर,
पर रोके रुक न सकेगा यों,
अंतर्वासी अंतर में आयेगा छिपकर !

अपने को फिर से पहिचानो !
यह भोली भूल तनिक भी काम न आयेगी !
बनने को निष्ठुर भी बनलो !
पर आज नहीं तो, कल छाती भर आयेगी !

माना तुम अगणित दीप जला,
दीवाली की इस अमा-निशा को जगमग-जगमग कर दोगी !
पर सच-सच बतलाना ! क्या यों
अपने अंतर की अमा-निशा का अंधकार भी हर लोगी ?

[नवम्बर, '४२

नहीं जा सकता ? क्या सचमुच हम लोग इतनी रात गये ऐसे निर्जन स्थान मे केवल घूमने के लिये नहीं आये ? क्या सचमुच ही हम लोग चोर-डाकू-क्रान्तकारी हैं ? क्या सचमुच ही एम० एस-सी० पास दारोगा साहब की उमर और समझ विश्वास करने योग्य हैं ? क्या सचमुच ही निर्जन वन की उस अँधेरी रात का सारा सौन्दर्य और मेरे अतर का सारा विषाद झूठा था ? क्या सचमुच ही ? ...क्या सचमुच ही ?...

सघर्ष के ऐसे अवसर कई आये हैं जिन्होने मुझे व्यर्थ ही यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि दुनियाँ के लिये मुझे अपना रातो का घूमना तथा और भी ऐसी कई बाते छोड़ देनी हैं और 'भले आदमियो की तरह' दिनभर हाय रुपया ! हाय रुपया !! की चिल्लाहट तथा नोचखसोट मे बिताकर, रात होते ही रुपया-आना-पाई के सपने देखने के लिये खाट पर पड़ रहना है ! दुनियाँ के पास यदि रात, और रात का शान्त स्तब्ध सौन्दर्य देखने की क्षमता नहीं, तो उसके लिये मै क्यो अपने व्यक्तित्व का बलिदान कर दूँ ? लोग मुझे कितना ही निशाचर, उल्लू, दम्भी, और आत्मरत कहे, किन्तु मैं जानता हूँ कि अपने रात के घूमने से और और भी ऐसे अनेक कार्यों से मै दुनियाँ का कुछ भी नही बिगाड़ता !

दिन तो बड़ा ही नीरस और कुरूप होता है ! रात ही तो हम जैसो के लिये जीवन लेकर आती है। जैसे जैसे अँधेरा घिरता है और रात भीगती है, मै जानने लगता हूँ कि मैं मैं हूँ और मेरा भी कही कोई है। अँधेरे में जो सौन्दर्य है वह प्रकाश में कहाँ ? सन्ध्या का सौन्दर्य मुझे उष.काल के सौन्दर्य से कहीं अधिक पसन्द है। यह नहीं कि उषा मुझे अच्छी नहीं लगती ! किन्तु उषःकाल का सौन्दर्य एक उच्छृंखल रूपगर्विता नारी का सौन्दर्य है, सन्ध्या का सौन्दर्य एक अप्रतिम, अतसौन्दर्यमयी, अतिविनीत, शान्त विरहिणी जैसा। यही बात पूर्णिमा और अमा के विषय मे भी है। चाँदनी मे सौन्दर्य है—एक अत्यधिक नशीला मनोमोहक सौन्दर्य; किन्तु वह सौन्दर्य नग्न है। चाँदनी प्रकृति-बाला के सौन्दर्य को जैसे उघाड़ उघाड़ कर दिखलाती है ! चाँदनी मे प्रकृतिबाला हमारे सामने मानो नग्न होकर उपस्थित होती है ! वह हमारे मन की बेचैनी को बढ़ा भले ही दे, पर हरे घावो पर मलहम लगाने की शक्ति

जानकर सबकुछ बना अनजान,
जी रहा—पर प्रेत सा कर रक्त अपना पान,
अधजला सा, अधबुझा सा,
सुप्त सा ज्वालामुखी, लुटती चिताओं के धुँआ सा;
क्यों लगे बन घुन स्वयं निज में प्रवासी?—
सोचने की बात है! ऐसा अरे क्या?

क्या करूँ !

[वियोग सहने में तो कोई हर्ज नहीं है, पर यदि वियोगी के जलते मस्तक को कभी कभी अपने मनभावन के कोमल करों का शीतल स्पर्श मिल जाया करे, तो वियोग की दुसह यातना अवश्य ही कुछ कम हो जाय !]

क्या करूँ ? मैं क्या करूँ ?

आज तक कसकर जिसे पकड़े रहा !
जकड़े रहा !
धैर्य का पतवार वह कर से छिटक कर छूटता !
क्या करूँ ? मैं क्या करूँ ?

आज तक दिन रात जो दुखता रहा !
रिसता रहा !
भर लबालब, वह पका फोड़ा अचानक फूटता !
क्या करूँ ? मैं क्या करूँ ?

आज तक जो दूर ही रहता रहा !
सहता रहा !
हो विकल, प्रिय से लिपटने वह सितारा टूटता !
क्या करूँ ? मैं क्या करूँ ?

स्पर्श

[जिन उँगलियों ने स्पर्श किया वे बोल तो सकती नहीं। पर फिर भी अपनी प्यास में वे कितनी तीखी हैं! अपनी अनुभूति में कितनी गहन! और अपनी अभिव्यक्ति में कितनी पवित्र!]

नामले तुमको पुकारा जब, गला बरबस रुँधा!—
उस पुलक की बातको किससे कहूँ?
काँपकर, चट, हाँफकर कर से तुम्हारा कर छुआ!—
उस नशीली याद को कैसे सहूँ?

आह! ओ मन्दार के कोमल कुसुम!
स्पर्श पा इन कृश उँगलियों का कहीं
यामिनी के उस मनोरम याम में
तुम गये अनजान कुम्हला तो नहीं?

खिल गये या भर पुलक-आवेग से
प्यार का प्रिय स्पर्श पा, यों सोचकर—
'है बड़ा पगला! बड़ा ही दीन है!
छू मुझे जिसने लिया सन्तोष कर!'

नन्हे मन !

[जिस अनन्त विश्वास और अनन्य अनुकम्पा से उसने निर्धन की गोद को भर दिया है, उससे अधिक वह शीशमहल की रानी कुछ कर भी तो नहीं सकती! मुरझाये मुखड़े को अपनी सघन वरुनियों की शीतल छाया से चूमकर ससार की सारी कड़ुवाहट को पलभर मे ही अतल में विलीन कर देती है पर मन भी बड़ा पगला है !— मचल कर कह उठता हे "और और"]

पल में खिलते, कुम्हला जाते क्यों छुईमुई से नन्हे मन ?

आती सदैव जो शीश-महल के द्वार खोल,
छम-छम माणिक-छज्जों पर करने अगवानी !
चचल हिरनी से द्रुत पग धर मन हर लेती
अचल फहरा, अलकें लहरा जो शीश-महल की पटरानी !
उसकी छाती के हर कंपन में, हर धड़कन में वसकर भी
क्यों बरबस सिसक सिसक उठते हो मेरे मन ?

जिसके नयनों में नयन डालते ही चटपट
त्रिभुवन में जाते बिखर चटक के सभी रंग !
जिसकी पलकों के पलने में कर बंद पाँख
लम्बी उड़ान की सब थकान खो देते हो तुम मन-विहंग !
उस विभावरी भी विभाभरी वैभवशालिनि को पाकर भी
रह रह हो जाते क्यों उदास ओ पगले मन ?

चित्र की रूप-रानी से !

एक तुमसी है हमारी रूप-रानी भी कहीं
चित्र में चित्रित अपरिमित रूप की प्रतिमा !
पर न तुमसी ही सुखी है वह वियोगिन,
रख नहीं पाती कभी निज भाल प्रियतम के सहारे
वह हमारी रूप-गुण-गरिमा !

बन्दिनी वह ! कर न कुछ पाती !
दूर से ही देख, प्रियतम की सदा प्यासी
पुतलियों में कभी चुपचाप खोजाती !
किन्तु तुमसी ही सरल, सुकुमार, अति मन-मोहिनी वह !
क्या कहूँ ?
है दूर जो ममतामयी उसकी बड़ी महिमा !
एक तुमसी है हमारी रूप-रानी भी कहीं
चित्र में चित्रित अपरिमित रूप की प्रतिमा !

मेरी मनोरम कनक-काया-कामिनी सुकुमार !
सह सकीं कैसे भला घन-कुन्तलो का भार ?
नित उषा शृङ्गार करती ले तुम्हारी ऐड़ियो से रंग !
फूल से हलकी ! बँधे मेरे सभी सुख-दुख तुम्हारे संग !

हो चुका निश्चिन्त शिशु सा, व्यग्र पलकें मूँद,
पा तुम्हारे स्नेह-अंचल की विमल छाया !
जब कभी जग ने किये दिल के अनेकों टूक
झट तुम्हारी लोरियो का राग मुझतक गूँजता आया !

मेरी शिराओं की गिरा !
सूने भवन की भारती !
कर कर तुम्हारी अर्चना
निशिदिन उतारूँ आरती !

ओ नैश नभ की चन्द्रिके !
मेरी विजन-वन-मल्लिके !
ओ देवि ! माँ !! प्राणाधिके !!!
तुम पर सदा मुझ दीन की आँखें टिकीं मेरी अमर सजीवनी !
हीरक-कनी !
मेरी प्रतनु हीरक-कनी !

[मई, '४२

बढ़ चुका संसार कितनी दूर !
कुचल पग पग पर गये कितने दिवस अति क्रूर !
जी रहा जग से बचाता,
सूम की थाती सदृश सुधियाँ हृदय-तल में छिपाता;
तुम से ही मैं वैभवशाली,
मेरा अस्तित्व नहीं तुम बिन
जैसे तम के बिन रात !

[मार्च, '४२

वहा मंद मथर गति मलय-समीर,
हुई लजीली कलियाँ प्रणय-अधीर,
गन्ध-विकल कर गया तुम्हारा सुरभित श्वास,
प्राण-मुरलिका बजी, सजीं तुम पहिने वासन्ती साडी।

कुहुक उठीं तुम मन-मधुवन में प्राण-!
गूँज उठा रग-रग में मादक गान,
डूब गया उस गुञ्जन मे सारा संसार,
डूब गया मै, शेष रही तुम पहिने वासन्ती साड़ी।

दूर देश से पा मधु-ऋतु संदेश
खिला खिले पाटल सा अंतर्देश!
छिप छिप कर छू छू जाता अंचल का छोर,
आँखमिचौनी खेल रहीं तुम पहिने वासन्ती साड़ी!

सजा तुम्हीं से आज प्रकृति का साज,
रग तुम्हारे ले रंजित ऋतुराज,
कर न सकेंगे सौ वसन्त ऐड़ी की होड़,—
आह। व्यर्थ ही लजा गई तुम पहिने वासन्ती साडी।

सघन वरुनियाँ झुकीं लाज के भार,
फरके अधर, मुँदे श्यामल दृग-द्वार,
हिले नुकीली नासा के पतले पुट काँप,
मर्म विवश खुल पड़े, छिपीं तुम पहिने वासन्ती साड़ी!

इतने कठोर !

[जहर की एकाध घूँट देने की अपेक्षा भराहुआ प्याला दे देना अच्छा है जिससे देनेवाले को भी बार बार देने की तकलीफ न उठानी पड़े और बेचारा पीनेवाला भी बार बार उन जहरीली घूँटों को गले से नीचे उतारने की तकलीफ से बच जाय।]

अब बनना ही है यदि कठोर,
इतने कठोर बन जाओ मन के मीत क्रूर !
हो जाये मन की छाया-छलना चूर-चूर !
भर जायँ आँख-मुँह में ज़हरीली ख़ाक-धूल,
इतना भटकाओ राह राह, रह दूर दूर !

अब बनना ही है यदि कठोर,
बन जाओ मन के मीत क्रूर ! इतने कठोर !
ऐसी रजनी में सोजाऊँ फिर हो न भोर !
इस पल पल के जी दुखने से हो चिर-बिछोह,
ऐसा बिछोह दो मिट जायें सब ओर-छोर !

अब बनना ही है यदि कठोर,
इतने कठोर बन जाओ मन के क्रूर मीत !
परकटे पंछियों से गुमसुम हों करुण गीत !
यदि चाहो भी तो देख न पाओ, तरस उठो,
ऐसा ओझल करदो अब यह मुख मलिन, पीत !

[अक्टूबर, '४२

तुम मेरे श्वासों की गति, मेरे प्राणों के
मधु-स्पन्दन की मधुमय लय हो!
तुम श्वासों की गति-रोधक, मेरे प्राणों की
दुर्दान्त यातना निर्दय हो!

जितना ही अधिक तपाओगी, उतना ही मै
निखरूँगा उज्ज्वल कुन्दन हो!
कर डालो चाहे क्षार, क्षार होकर भी मैं
बिखरूँगा चरणों की रज हो!

इतनी सशक्त हो तुम अब भी
मेरे रोएँ-रोएँ को पल में पीड़ा से भर सकती हो!
इतना अशक्त हूँ मै अब भी
मेरा रोआँ-रोआँ रो देता उस पीड़ा से पीड़ित हो!

[नवम्बर, '४२

तन्तुओं से बुना रहता है, उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम अखबारी आदमियों के पास अवकाश ही नहीं रहता। और जब कोई, जिसके पैर में बिवाई फट जाती है, अपनी पीर के विषय में हमसे कुछ कहने लगता है तो हम उसे पागल कह कर उड़ा देते हैं। संसार का नब्बे प्रतिशत साहित्य किसी न किसी रूप में नारी और पुरुष के चिरतन आकर्षण—प्रेम की धुरी पर ही घूमता है। किन्तु कितने हैं हम में से ऐसे जो प्रेम के रहस्य को अच्छी तरह समझते हैं और उसके विषय में समय निकाल कर ध्यान से सोचते हैं? जी ऊब जाने पर मन बहलाने के लिए दो एक प्रणय-गीत पढ लेना तो उसी प्रकार है जैसे रूखे-सूखे चेहरे पर अफगान स्नो का प्रयोग। किन्तु प्रेम केवल साहित्य की ही वस्तु नही, जीवन का भी चिरन्तन सत्य है। आदमी के हृदय का चरम विकास प्रेम जैसी कोमलतम अनुभूति में ही हुआ है। रूप के आकर्षण की बात और है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य का हृदय उस विकास को प्राप्त नहीं होता जो प्रेम के लिए अपेक्षित है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रेम करना सम्भव भी नहीं! और फिर प्रेम में भी अनेक स्तर होते हैं—एक के ऊपर एक। जैसे जैसे प्रेम गहरा होता चला जाता है, ये स्तर उठते चले जाते हैं, और तब जो प्रेमी को नयेनये अनुभव होते हैं, वे अननुभवी संसार को शेखचिल्ली की कहानियों से अधिक नहीं लगते। किन्तु भाग्य से अथवा दुर्भाग्य से, जिनको भी इस अनुभूति मे गहरा पैठना पड़ा है, उनके निकट ये शेखचिल्ली की कहानियाँ उतनी ही सत्य हो उठती हैं, जितने सत्य किसी साधारण आदमी के निकट चाँदी के कुछ चमचमाते हुए टुकडे अथवा आजकल के ज़माने मे कागज़ के कुछ नीले पीले नोट।

प्रेम हो जाता है, किया नहीं जाता! यहाँ जब मैं प्रेम कहता हूँ तो मेरा मतलब रूप के क्षणिक आकर्षण से कदापि नही। वास्तव मे हमारे अधिकाश प्रेमी रूप के ही लोभी होते हैं—समय और परिस्थितियो के तीखे क्षार को सहने की शक्ति उनमे नहीं होती। प्रेम जैसी अनन्य चीज पर बाजारू लोग भी अपना निर्णय देने लगते हैं। किन्तु इन बाजारू लोगो के कारण न तो प्रेम की ही महत्ता घटती है और न इनेगिने वास्तविक

कड़वी हिचकी बन गूँज रहीं आशीष, आश, उर-अभिलाषा—
ओ सुरभि-निर्झरी ! मधु-वर्षिणि ! नित नित नूतन सौरभ सरसो !

सौ बार जिऊँगा मर-मर कर केवल इतना भर कहने को—
मुस्कान तुम्हारे अधरों पर खिल-खुल-खेले, चिरजीवी हो !

[जुलाई, '४२

कारण प्रणयी का कलेजा मुँह को आने लगता है। किन्तु यह आशङ्का अपने में महान है—इतना हमें नहीं भूल जाना चाहिये।

इस बुद्धि-विज्ञान प्रधान बीसवीं शताब्दी में, जब तोपों और टैंकों द्वारा दुनियाँ का भाग्य निर्णय हो रहा है, मेरी अन्तर्विज्ञान सम्बन्धी बातें कोरा प्रलाप लगें, तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा। किन्तु जो कुछ मुझे कहना है, उसे मैं कहूँगा और दृढ विश्वास के साथ कहूँगा। प्रेमियो के अन्तर के वायरलेस के लिए न तो बटन घुमाने की ही आवश्यकता पड़ती है और न ईथर-लहरियों की ही। आप अपने मित्रो में बैठे चाहे जैसी हाहा-हीही क्यो न कर रहे हो, यदि सौ योजन दूर बैठे आपके मन के मीत पर कोई विपत्ति पड़ेगी, अथवा किसी कारणवश वह व्यथित हो उठेगा, तो आप भी उस व्यथा से अछूते नहीं रह सकते! तुरन्त ही आप को बिजली का सा शॉक लगेगा; सारी हाहा-हीही भूलकर आप एकदम बेचैन हो उठेंगे और एक अकारण-सा गहरा विषाद आपके रोम-रोममें छा जायेगा। अन्तर की यह कोशिश फ़ेल हो जाय—ऐसा सम्भव नहीं। मस्तिष्क और थोड़ी-बहुत बुद्धि मेरे पास भी है। फिर भी मैं जब यह सब कह रहा हूँ, तो किसी नींव पर ही। असख्य आदमियो में छिपा कर खड़ा कर देने पर भी क्या आपको अपने मनमोहन को पहिचानते तनिक भी देर लग सकेगी? ओह! ऐसा असम्भव है! यह तो यह, ईंट चूने की मोटी-मोटी प्राचीरें भी आपके प्रियतम के आभास को आपसे न छिपा सकेंगी। किसी अपरिचित नगर में, किसी अपरिचित मकान के भीतर आपका प्रिय हो और आप उस मकान के नीचे हो कर निकले, तो क्या आप समझते हैं साधारणतया और दिनो की तरह ही पग बढाते हुए उस मकान के नीचे से निकल सकेंगे? जी नहीं! आप वहाँ चाहे रुके भले ही न, किन्तु आपके डग शिथिल न पड़ जायँ और आप के अन्तर मे भी कुछ अजीब सा न होने लगे—इतना भी असम्भव है! प्रेम की दुनियाँ बहुत बड़ी है—बहुत ही बड़ी, और उसकी बाते भी बहुत-बहुत हैं। कार्य और कारण की विवेक बुद्धि हमको बौना बना देती है, हमारे अन्तर के समुचित विकास को रोक देती है; और तब

प्रश्न उठ सकता है काम-वासना के विषय मे। सो काम-वासना जैसी निम्न स्तर की भूख का प्रणय के इन उच्च स्तरो में क्या काम? शरीर की भूख के लिये दुनियाँ में मादाओं की कमी नहीं। किन्तु प्रेम तो मन की भूख है और इस मन की भूख के लिये कुछ ऐसा वैसा सोचना उसके साथ सर्वथा अन्याय करना है। और तो और, जब हमारा चैतन्य दबा रहता है और हमारी पाशविक वृत्तियो को खुलकर खेलने का अवसर होता है, सुपुप्तावस्था के उन सपनो में भी, पहिले तो अपने प्यारे के सपने ही हमको अलभ्य होगे, और भाग्य से यदि कभी प्राप्त होगे भी तो ऐसे, जिनमें अपने मनभावन के प्रति हमारी पाशविक प्रवृत्तियो का मार्ग सदैव ही अवरुद्ध रहेगा। यदि चाहे, तो सपनो के तत्त्ववेत्ता फ्रायड की मृतात्मा भी मुझसे इस बात को सीख सकती है।

लीबीडो और ईडीपस कॉम्प्लेक्स आदि की विचार-धारा को एक ओर रखते हुए,—वासनाहीन कुछ ऐसी सात्विक लालसायें अवश्य हो सकती हैं जिनका व्यक्तीकरण शरीर के विभिन्न अगो द्वारा ही हो सकता है। उदाहरणार्थ प्रियतम को देखने की लालसा का सच्चा सन्तोष केवल अंतर की ऑखो से ही नहीं, वरन् इन रक्त-चाम की बनी ऑखो से ही हो सकेगा। सच्चरित्रता प्रेम की पहिली शर्त है—ऐसा मै मानता हूॅ, किन्तु साथ मे यह भी जानता हूॅ कि वह कागज की नाव भी नही जो पानी की छीट पडते ही गल जाय। मेरी स्पर्श की ललक सबसे अधिक तीखी है और इस कारण मेरे सुखातिरेक की आगिक अभिव्यक्ति भी केवल छूने भर तक ही सीमित रहती है। पलको पर, अधरो पर और बालो मे धीमे धीमे उॅगलियॉ फेरने के अतिरिक्त सुख की पूर्णता का और कोई चित्र मेरी ऑखो में नहीं झूलता। किन्तु इस सब में, अथवा किसी कविता के भावना-चित्र मे, वासना की गंध सूॅघना रुढिगत बौद्धिक दासता और सकीर्ण दुनियावी समझदारी का ही सूचक होगा। वासना का सम्बन्ध कार्य से अथवा वस्तु से नही, कार्य अथवा वस्तु के पीछे अतर्निहित भावना से है। क्या बहिन अनजाने ही अपने छोटे से भाई के मस्तक को झुककर नहीं चूम लेती? क्या मॉ, दिनों के बिछुडे हुए, अपने चालीस वर्ष के लड़के से दौड़कर नहीं लिपट जाती? क्या ये चुम्बन और

हूँ और एक बार फिर से कहना चाहता हूँ कि आदमी के अंतर का ताना-बाना छुईमुई से भी अधिक कोमल और अति विचित्र सूक्ष्म तन्तुओ से बुना होता है। अतः न जाने किस जगह से अंतर छू जाय, न जाने किस समय सारे तार झनझना उठे और न जाने किस प्रकार की ध्वनि अनायास ही निकल पड़े! ऐसी दशा मे यदि कभी कोई अनहोनी सी बात भी होजाय, तो हमें चौंकना नहीं चाहिये, तनिक सहानुभूति से काम लेना चाहिये। आदमी वास्तव मे बड़ा ही समझदार जानवर है। तनिक सा पुचकार देने में ही वह खुश हो जाता है। ममता के भूखे मन को इससे अधिक और कुछ भी नही चाहिये! जब तक विश्वास का सहारा है, मुझे न किसी का डर है और न विघ्नबाधाओ की परवाह। किसी एक जगह मेरी दृष्टि ठहरी हुई है! किन्तु भविष्यत् रहस्यमयी अंतर्प्रेरणा से प्रेरित अनेकानेक घटनाओ को अपने गर्भ मे छिपाये, एक बहुत बडा प्रश्नवाचक चिह्न लगाये मेरे सम्मुख खड़ा है! देखो! जो कुछ भी हो जाय!

प्रयाग,
१ सितम्बर, '४२

—मनोहर

साँझ पा, तब, रात का आदेश,
काल-बाला बनी फैला घने काले केश,
दृष्टि पथ पर तम बिछाने,
अंध विहगो के दृगों को और भी अंधा बनाने;
दूर होकर भी युगों से साथ प्रतिपल,
उड़ रहे चिर-यामिनी में दो विहंगम !

[दिसम्बर, '४१

अनायास तुम बरस पड़ीं
झर झर झर झर ;
गिनती की बस एक बूँद
बिखरी मुझ पर ।

वही बूँद अंतर में
मोती बन विहँसी ;
उसी स्नेह की सुधि बस
उर में सदा बसी ।

दूँ मैं क्या प्रतिदान ?—
मेरा क्या ?
ओ प्राणों की प्राण !
मेरा क्या ?

जिसकी बूँद, उसी का मोती,
उसका तन-मन-प्राण !
मेरा क्या ?
ओ प्राणों की प्राण !
मेरा क्या ?

[नवम्बर, '४२

दिवा-स्वप्न

[रात के सपने तो रात के सपने—दिन के भी सपने होते हैं, जब पलके खुली रहती है और नीद भी नही होती ; पर पुतलियाँ किसी के ध्यान में डूबी रहती है—किसी को देखती रहती हैं। बेचारे कवि के दिवा-स्वप्न भी कुछ कुछ ऐसे ही है।]

दिवा-स्वप्न मुझको वैसे जैसे रजनी को चाँद-सितारे !

होता प्रात, स्वप्न उड़ जाते पलकों के पर खोल,
खुली पुतलियो में घिर आते दिवा-स्वप्न अनमोल,

कट जाते पहाड़ से बोझिल दिन उनके ही संग-सहारे !

अगणित दिवा-स्वप्न-लहरो में धर-धर रूप अनेक,
प्रतिबिम्बित नित होती कोई चन्द्र-कला सी एक,

विरह-सिन्धु में डूबे को बस दिवा-स्वप्न ही कूल-किनारे !

रात भीगती, निद्रा नयनो मे लहराती झूल,
दिवा-स्वप्न मुरझाते जैसे हरसिंगार के फूल,

दिन भर के संगी साथी, थक, सँग-सँग सो जाते बेचारे !

[अक्टूबर, '४२

बड़ा कठिन है उलझ किसी से सहज सुलझ जाना !
सुलझ न पाई तुम से तो यह उलझी साड़ी भी !
सुलझाना क्या जानो ? जानो केवल उलझाना !
उलझा बैठीं कभी किसी से अपने मन को भी !

यह तो साड़ी का पल्ला था—
सुलझ गया !
पर मन ऐसा नहीं प्राण !
वह उलझ गया सो उलझ गया !

[फरवरी, '४३

अपने यौवन से स्वयं अपरिचित, खड़ी खुली छत पर होती,
जब अनायास
चट खिसक गई होती उसके सिर से साड़ी,
वह स्वयं झेंप जाती अपने सूनेपन में,
काली अलकावलि होतीं जानु तलक फैली,
तब कोटि बाहुओं में कस लेता
प्रिय की उस अनुपम छवि को,
मुट्ठी भर भर, दिल खोल लुटाता
जल-थल-अम्बर में चाँदी ;
उस मधुमय क्षण मे
हरसिंगार के फूलों से भी कोमलतर प्रिय के कपोल
हो उठते सहसा लज्जारुण !
होता मै भी यदि चन्द्र-किरण !

जब नरम सेज पर बदल रही होती करवट
अनमनी प्रिया आँखें मींचे,
निस्सीम शून्य नभ के नीचे,
चट खोल पलक,
फिर आकुल दुहरी करवट ले
बीती बातों के संग-सहारे
गिनती अनगिनती तारे ;
तब बैठ प्रिया के सिरहाने अति चिन्तित हो
जलता मस्तक गोदी में रख कर सहलाता धीमे धीमे ;
लम्बे केशों में डाल अँगुलियाँ
खो जाता मैं स्वयं,
किन्तु दे दे थपकी

हँस उठती सहसा मुझ सी ही
हो रजत वरण !
होता मैं भी यदि चन्द्र-किरण !

देख भोर का सपना प्रिय जब
बालारुण से भी पहिले जग,
अंग अंग से अँगड़ाई ले,
उठती अस्तव्यस्त शैया तज ;
खुली, जानुओं तक लटकीं बंकिम अलकें,
खुली-अधखुली, झुकी-झुकी, अलसित पलकें,
अस्तव्यस्त, सिकुड़ी सी साड़ी, शिथिल वसन,
मदिर, उनींदी, झँपी, नशीली सी चितवन ;
तब भर नयनों मे वह अभिनव अनमोल चित्र,
अस्तित्व लुटा मुरझा जाता ज्यों निशिगंधा,
फिर से सजीव हो कर छा जाता पल भर में बन हास रेख
प्रिय के शराब से अधिक अरुण, रंगीन, गुलाबी अधरों पर ;
वह उषा-काल की करुण विदा-वेला
बन जाती मिलन-घड़ी,
जब मुझको मिटता देख
प्रिया झट दे देती
अपने अधरों मे अभय शरण !
होता मै भी यदि चन्द्र-किरण !

होता मै भी यदि चन्द्र-किरण,
तो चन्द्र-किरण से भी उज्ज्वल
अपनी प्रतिमा के पूजन मे करता अर्पण
अपना क्षण क्षण !

[सितम्बर, '४२

तुम मेरे संग, मैं संग तुम्हारे छाया सा,
मैं दूर रहा तुमसे पगली ! पलभर को भी ?
तब क्यों रह-रह वैसे ही जी छोटा करती ?
सुख होतो, न्यौछावर कर दूं अपने को भी ?

संकोच-हिचक मत करना मेरी कल्याणी !
यदि मैं ही सुधि बन दुख दूं तो सुधि को क्या ?

—मुक्तक को बिसराना होगा ही !

[जनवरी, '४२

तुम मेरे सँग, मै संग तुम्हारे छाया सा,
मै दूर कहाँ तुमसे पगली ! पलभर को भी ?
तब क्यो रह-रह वैसे ही जी छोटा करती ?
सुख होतो, न्यौछावर कर दूँ अपने को भी ?

संकोच-हिचक मत करना मेरी कल्याणी !
यदि मै ही सुधि बन दुख दूँ तो सुधि को क्या ?

—मुक्तक को बिसराना होगा ही !

[जनवरी, '४३

छिप गया दिन का जगत विद्रूप
देख सारस-बालिका सी चाँदनी का रूप,
रूप वसुधा पर लुटाया,
चाँदनी ने सौ करों से थप-थपा कण-कण सुलाया,
किन्तु यह क्या ?—नींद के माते नयन ये
रह गये यों ही खुले ! मुँदते न दो क्षण !

[दिसम्बर, '४१ ।

वारुणी सिंचित दृगों की कोर,
अलस चितवन, मदिर पलकें, पूर्णआत्म-विभोर,
चकित अचला चंचला सी,
लाज सी लज्जा पुतलियों मे, मिलन-आराधना सी,
सरल शिशु की बात सी, भोली मृगी सी,
गहन नीरव निशि सदृश थी वह कपोती !

[फरवरी, '४२

सावन की रात

[सावन की रात और कवि दोनों एक ही पीड़ा के निशाने बने हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सावन की रात डबडबाती आँखों से उसके सामने खड़ी है, और वह आज अगणित चोटें खाकर किसी ज्वालामुखी से दूर फेंके गये पत्थर की भाँति कठोर होकर सब कुछ सहना सीख गया है। उसकी चाह यही है कि बेचारी रात को समझा बुझा कर किसी प्रकार धीरज बँधा सके।]

ओढ़ चादर स्याह—काली स्याह,
बन्द पलकों की बरुनियों में लिये बरसात,
चाँद-तारों को लुटा, गुमसुम सिसकती शून्य सावन की अँधेरी रात!

दबे पैरों, चोर सी चुपचाप,
आँसुओं से आर्द्र, लथपथ, सद्यः दृग-जल-स्नात
शून्य श्वासों सी रही वह मौन, शीतल, हंसिनी सी मंद, मंथर वात!

गूँजती नभ में अनेकों बार
बादलों के मूक अंतर की व्यथित चीत्कार,
थरथरा उठता भुजंगम सा स्वयं तम छोड़कर प्रलयंकरी फूत्कार!

कर दिशाओं को चकित, भयभीत;
ना हलाहल में बुझे तीखे, नुकीले तीर,
कौंधती विद्युत अचानक ही तड़पकर स्याह तम का स्याह अन्तर चीर!

आँसुओं के भार से दब, रात
एक डग रखती सँभल एकाकिनी चुपचाप,
पैर से सिर तक सिहर कर चौंक उठती सुन स्वयं अपनी दबी पदचाप!

सावन की रात

[सावन की रात और कवि दोनों एक ही पीडा के निशाने बने है। अन्तर केवल इतना ही है कि सावन की रात डबडबाती आंखों से उसके सामने खडी है, और वह आज अगणित चोटें खाकर किसी ज्वालामुखी से दूर फेंके गये पत्थर की भाँति कठोर होकर सब कुछ सहना सीख गया है। उसकी चाह यही है कि बेचारी रात को समझा बुझा कर किसी प्रकार धीरज बँधा सके।]

ओढ़ चादर स्याह—काली स्याह,
बन्द पलको की बरुनियों मे लिये बरसात,
चाँद-तारों को लुटा, गुमसुम सिसकती शून्य सावन की अँधेरी रात !

दबे पैरों, चोर सी चुपचाप,
आँसुओ से आर्द्र, लथपथ, सद्यः दृग-जल-स्नात
शून्य श्वासों सी रही बह मौन, शीतल, हंसिनी सी मंद, मंथर वात !

गूँजती नभ में अनेकों बार
बादलों के मूक अंतर की व्यथित चीत्कार,
थरथरा उठता भुजंगम सा स्वयं तम छोड़कर प्रलयंकरी फूत्कार !

कर दिशाओं को चकित, भयभीत;
खा हलाहल में बुझे तीखे, नुकीले तीर,
कौधती विद्युत अचानक ही तड़पकर स्याह तम का स्याह अन्तर चीर !

आँसुओं के भार से दब, रात
एक डग रखती सँभल एकाकिनी चुपचाप,
पैर से सिर तक सिहर कर चौक उठती सुन स्वयं अपनी दबी पदचाप !

पगला

[कुछ न कुछ खोते तो सभी है , पर यह क्या कि खोई हुई वस्तु की कभी पूर्ति ही न हो सके ? जिसका घाव हरा ही रहे, न सूखे ही, न भरे ही, उसके लिये भला क्या कहा जाय ?]

खो गया तेरा अरे ऐसा बता क्या ?
जो न मिल सकता कभी फिर !

कौन सी वह वस्तु है अनमोल ?—
खो जिसे तू स्वयं भी खो सा गया, कुछ बोल !
मौन क्यों ? मुख खोल पागल !
यो बहाता ही रहेगा बोल ! कब तक अश्रु अविरल ?
एक दिन तो थक थमेंगे ही नयन-घन
जो घुमड़ते आज घिर-घिर ।

विश्व है अक्षय, अमर भंडार,
क्यो हुआ तेरे लिये ही शून्य सब संसार ?
भर रहे नर-नारि अनगिन,
क्यों भला तू ही अकेला तड़पता ज्यो मीन जल बिन ?
व्यर्थ क्यो रह रह पटकता शीश ? पगले !
स्वप्न कब रहते सदा थिर ?

साथ ले नूतन, नवल संदेश,
जागरण की दुन्दुभी, उन्माद का आदेश,
झूमता ऋतुराज आता,
पर न जाने क्यो करीरों के विजन से मुँह छिपाता ?
क्या करीरों में लगेगी एक कोपल
भूल कर भी ?

[नवम्बर, '४१

रात से काले विहंगम
भ्रान्त हो,
उद्भ्रान्त हो आकाश में।
सब दिशायें सर्पिणी सी
साँस लेतीं
और
रह रह कर उगलतीं
विषम तम को।

कौन जाने?
साँझ का सुनसान जीवन—
कौन जाने?
उफ़, सदा ही
कालिमा बस लालिमा को लील लेती!
युग-युगों से
रात के तम का अमर सन्देश लेकर
साँझ आती।
साँझ आई!

[फरवरी, '४१

"म्लान बिखरे फूल ! तुम सब व्यर्थ क्यों विक्षुब्ध हो ?
स्याह फूलो की विमलता देख पाओ—देख लो !
तुम बिखर, हो हो अलग, अगणित कुसुम मुरझा गये–
एक तन हो, एक मन हो खिल रहे वे फूल दो !

फूल दो, कोमल हृदय दो, जब कभी मिट-मिट मिले,
एक काले रंग मे ही रँग युगो तक हँस सके !
स्याह काले फूल सुन्दर, सुरभिमय, हँसमुख सदा,
क्या हुआ—यदि श्वेत बगुले देख कर उनको हँसे ?

स्याह काला रंग उनकी' युग-युगो की साधना !
वह अमिट रँग एक दूजे की सतत आराधना !
कोटि बिखरे फूल उन पर सहज न्यौछावर करूँ !
मृदुल काले फूल दोनों प्रणय की मधु-कल्पना !"

गूँज यों निस्सीम नभ मे ध्वनि-लहरियाँ छिप गईं ;
वायु ठिठकी, पत्र सहमे, टहनियाँ गुमसुम हुईं ;
म्लान बिखरे फूल सुन उत्तर तुरत मृतवत् हुए—
स्याह फूलो की पँखुड़ियाँ और भी काली हुईं ।

किसी झुरमुट में खिले थे स्याह काले फूल दो ;
एक टहनी मे बिधे थे, बँध परस्पर, एक हो ।
थपथपा तन, गुदगुदा मन, वायु यों गाती रही—
"एक रँग मे रँग गये दोनो कुसुम लो, देख लो !"

[जुलाई, '४२

अनमना सा चल दिया मन मार,
हो गया गुमसुम निशा सा सर पटक सौ बार,
दूर हो प्रति निमिष, प्रतिपल,
एक दिन हो जायगा फिर दृष्टिपथ से पूर्ण ओझल,
बढ़ चला लो कारवाँ अब लड़खड़ाता,

देख भी लो !

[अक्टूबर, '४१

स्वप्न में जब तुम मिलीं चुपचाप,
दौड़ पागल सा गिरा पद चूम अपनेआप,
भूल कर निज साधना सब;
भूल कर सब कुछ युगों के विरह का बदला लिया तब ;
उन नयनों में क्या भरा हुआ ?—
कितना कमज़ोर बना देते !
तुम चिर-विजयिन, मैं चिर-परास्त !

[नवम्बर, '४१

निज सुहाग-सिन्दूर पोंछती
जब सन्ध्या ले अमित विराग,
छल-छल-छल कर बह उठता है
प्यासे नयनों से अनुराग,

चिर-निर्धन के पास शेष है
केवल स्मृतियाँ दो चार,
इस जर्जर जीवन-नैया की
बनी हुई वे ही पतवार,

कैसे तुम्हे दिखाऊँ निर्मम ! अपनी पीड़ा का संसार ?

लम्बी सी उड़ान भर कर जब
उड़ जाता है दूर विहंग,
अपने प्रिय के चरणों का
चुम्बन ले आता हृदय-कुरंग,

यद्यपि निर्दय जग के सम्मुख
हूँ मै तुम से दूर अपार,
रोम रोम मे तुम्हीं रमी हो
ऐ मायाविन ! बन साकार !

कैसे तुम्हें सिखाऊँ पगली ! पगलों का अनन्त अभिसार ?

[जनवरी, '४१

छू कर फिर दूर चले जाते,
जीवन में वे आते—आते कहने भर को।

फिर वे होते
जो अपनी अपनी लिये छाप,
अपने अपने व्यक्तित्व साथ,
जीवनावर्त के भीतर कर जाते प्रवेश।
वे मिल जाते
अनिवार्य्य रहा ही हो जैसे उनका मिलना,
मिलकर जीवन को दे देते
वे और, और से और रूप।
दिन, मास, वर्ष से हिलमिल कर,
काले अतीत मे घुलमिल कर,
धुँधले होते जाते निशि-दिन उनके स्वरूप।

पर वह भी तो होता ही है
जिसको ले मन खुद अपने को खो देता है,
खो देता है सारी दुनियाँ को हँस हँस कर।
जीवन-नौका का वह माँझी,
कहलाता है जीवन-साथी,
उसके रँग में सारा जीवन रँग जाता है।
गुड्डे-गुड़ियों का खेल नहीं,
हँस, 'हुँह' कहने की बात नहीं
उसका बन्धन है अमिट, अमर,
कच्चे धागे सा क्षणिक नहीं।
जीवन-सरिता में गति भरता,
भरता प्रवाह ;

उपालम्भ

[आदमी को सबसे बड़ा असंतोष अपने ऊपर तब होता है जब यह पता चलता है कि वह स्वयं ही अपने से बागी है—उसका स्वयं अपने ऊपर भी कोई जोर नहीं ।]

पत्थरों के पास अब तक रह अरे मन !
क्यों नहीं पत्थर हुआ तू भी ?

क्रुद्ध नागिन सी नशे में चूर,
छोड़ती फूत्कार विजयोल्लास से भरपूर,
दौड़ती कर शब्द 'हरहर'
ज्येष्ठ के मध्यान्ह की लू सोख लेती स्नेह-निर्झर,
विश्व की मरुभूमि में निशि-दिन झुलसकर,
क्यों नहीं पत्थर हुआ तू भी ?

चील गृद्धों के सदृश मुख खोल,
माँस के कुछ लोथड़ों पर शक्ति अपनी तोल,
जी रहे जग के अमित जन,
भैरवी के शाप सी उद्धत क्षुधा से क्लान्त, उन्मन,
सर्वभक्षक जन्तुओं का हास सुनसुन,
क्यों नहीं पत्थर हुआ तू भी ?

अपने से !

[रोते हुए दिल को किसी न किसी तरह समझाना तो होता ही है—पर मन समझ सके तब तो ?]

किसकी प्यास बुझ सकी पगले ? अब अंतर में आग बसाले ।

पावस की रिमझिम बूँदों का छोड़ मोह, लो चला प्रवासी ,
चूम जेठ की जलती दोपहरी की सूनी घोर उदासी ।
उर मे ज्वालामुखी छिपा कर , अंगारों को गले लगाता ,
अपने उष्ण रक्त के घूँटो से ही आकुल प्यास बुझाता ,
चला बटोही क्षत विक्षत हो, लम्बे पथ पर, सम्बल खोकर,
यौवन के सूने मरघट पर जीवित अपनी चिता सँजोकर ।
आँख खोल कटु सत्य देखले ! ओ मधु-स्वप्नो के मतवाले !
किसकी प्यास बुझ सकी पगले ? अब अंतर में आग बसाले !

काग़ज़ की नैया को लेकर माँझी चला छोड़ सागर - तट ,
आलिंगन करता झंझा से, पाकर महा - प्रलय की आहट ।
गुमसुम सी इस अमा - निशा ने बुझा दिये हैं सारे दीपक ।
झाँक रही घनघोर उदासी काल-रात्रि सी दूर क्षितिज तक ।
सागर के अधिवासी में भी युग-युग की छिप रही पिपासा ।
लहरों का क्षणभंगुर आलिंगन भी जाने कब का प्यासा ?
पत्थर में भी प्यास छिपी है, ओ प्यासे से नयनों वाले !
किसकी प्यास बुझ सकी पगले ? अब अंतर में आग बसाले !

प्यासे बादल !

[बादल दूसरों की प्यास बुझाते हैं। किन्तु जब वे स्वयं ही प्यासे हों, तो उनकी तीखी प्यास का केवल अनुमान ही किया जा सकता है, उससे अधिक कुछ नहीं।]

धू-धू कर जल उठीं चिताएँ, प्यासे बादल घिरे गगन मे।

सूनेपन का सम्बल लेकर आज बढ़ रहा पथिक निरन्तर।
जीवन के बोझिल दिन ढोता - ढोता चला प्रवासी पथ पर।
दूर किसी की आहत पीड़ा सी पगडंडी पर वह प्यासा
क़दम बढ़ाता चला जा रहा लेकर चिर अभिशप्त पिपासा।
गिनता साँसों के अंगारे जीवन के लम्बे ऊसर में
सुलग रहा, जल रहा, जल चुका, क्षार हो चुका, उड़ा डगर में।
एक घुमड़ता सा सन्नाटा आ बैठा इस धुँधले मन मे।
धू-धू कर जल उठी चिताएँ, प्यासे बादल घिरे गगन में।

दूर क्षितिज तक बिछे हुए है गरम गरम बालू के पर्वत।
जीवन की तीखी दोपहरी करती आज मृत्यु का स्वागत।
मर्मर मरघट सा झुलसाता जाता जीवन की फुलवाड़ी।
पतझर के दिन हैं ये पागल! नहीं कहीं वासंती साड़ी।
इस करील के वन मे भी रे! पतझर 'झरझर' कहने आता।
अंधे को अंधा करने को झंझा जी भर धूल उड़ाता।
सिमिट काल - नागिन सी बैठी घोर उदासी इस आँगन में।
धू-धू कर जल उठी चिताएँ, प्यासे बादल घिरे गगन मे।

साँझ घिरी !

[एक ओर जब आसमान में यामिनी की छाया घर करती आ रही है तो दूसरी ओर हृदय-पटल पर कोई जानी पहिचानी छवि स्पष्ट हो रही है। क्रमशः अँधेरे की कोई थाह नहीं रही तो इधर व्यथा का भी कोई अन्त नहीं रहा।]

साँझ घिरी—
साँझ घिरी, अनगिनती तारे फूट चले।
याद जगी—
याद जगी, लो बाँध अनेकों टूट चले।

तम फैला—
तम फैला, काली नागिन फुफकार उठीं।
मन मचला—
मन मचला, अंतर-ध्वनियाँ झंकार उठीं।

वायु बही—
वायु बही, उद्वेलित लहरें उछल रहीं।
टीस उठी—
टीस उठी, मन की मनुहारें मचल रहीं।

गगन घुटा—
गगन घुटा, घिर घूम घटायें घुमड़ पड़ीं।
पलक मुँदे—
पलक मुँदे, पलपल पर सुधियाँ उमड़ पड़ीं।

आँसुओं का मोल

[किसी गरीब की जरा सी सम्पत्ति का मूल्य लगाना किसी धनवान के लिये सम्भव नहीं। आँसुओं के सच्चे मोल को वही आँक सकता है जिसे अपनी असहाय अवस्था में केवल आँसुओं का सहारा मिला हो !]

कौन जाने आँसुओं का मोल—
हृदय की आकुल उमस का मोल—
पगले ! कौन जाने ?

अनमना आषाढ़ आता घूम,
अनमनी सी साँझ की उन्मन उदासी चूम,
घिर उमस से सृष्टि भरता,
पलक हो जायें न गीले कहीं—डरता,
रोकता कैसे हृदय की पीर कुछ क्षण—कौन जाने ?

घुटघुटाकर आप ही बेबस घुमड़कर,
दिनो की अवरुद्ध बढ़ती धार चल पडती उमड कर,
टूट जाते बाँध सारे,
फूट जाते खोखले ऊँचे किनारे,
किस वियोगी के नयन घन बन बरसते—कौन जाने ?

दुस्साहस

[दुर्भाग्य के थपेड़ों से घिरे हुए व्यक्ति का भी कौन साथी ? पावस के बादलों ने सहानुभूति के आँसू बहाकर साथ देने का दुस्साहस भी किया तो बस थोड़ी ही देर को। उनका पानी सूख गया किन्तु अभागे की आँखों का पानी ज्यों का त्यों बना रहा।]

बाँध कुछ साहस, चला था साथ देने !
पर, थका दो चार डग सँग चल गगन भी।

सो गईं जब सिसकियाँ चुपचाप,
भूल से सिहरा स्वयं निज शाप पर अभिशाप,
छिप गये बादल तभी सब,
खो गई अज्ञात घन-पद-चाप नीलमदेश मे तब,
देख मन को शून्य, क्षण भर में गया बन
शून्य, शान्त, निरभ्र, नीलम सा गगन भी।

किन्तु थी यह क्रूरता की चाल—
ले अमित अँगड़ाइयाँ पीड़ा जगी तत्काल,
मन हुआ धुँधला, विकल फिर,
ढक गया आकाश भी काली घटाओं से घुमड़ घिर,
झाँक मन में, देख कर गहरी उदासी,
हो उठा सँग सँग व्यथित, धूमिल गगन भी।

सतत प्रश्न

[किसी निराश व्यक्ति से प्रश्न किया जाय—"क्यों जी तुम निराश क्यों हो ?" तो उसका उत्तर निराशा भरे इस प्रश्न के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है "क्यों जी मै निराशा क्यो न होऊँ ? आखिर मैं आशा करूँ भी तो कैसे ?"]

कौन से अरमान अंचल में सँजोता ध्वस्त खँडहर ?
कौन सी मरुभूमि में निर्झर बहाता अश्रु झर-झर ?

क्या क्षितिज को चूम लेगा शीघ्र ही जर्जर विहंगम ?
सत्य भी होंगे कभी क्या टूटते से स्वप्न-संगम ?

क्यों विफल आयास करता गूँजने का क्षीण कंपन ?
चाहता क्यो क्षणिक बुद्बुद् विश्व मे बनना चिरंतन ?

किन उनीदी पुतलियों को देखती पगली दुराशा ?
किन उमंगो की तरंगो मे रही बह यह निराशा ?

साँझ के धुँधले गगन को क्या हिला देगी प्रभाती ?
क्या चिता की चाँदनी भी चाँदनी बन पास आती ?

किस नवागत की प्रतीक्षा में खड़ा तरु विजन तट पर ?
किस पथिक की राह रोके जग रहा दीपक निरंतर ?

अंतिम गीत

[असहाय प्राणी ने एक याचना भरी दृष्टि सारे संसार पर डाली। संसार का कणकण मानो कह उठा 'तू अभागा है! तेरा भला इसी में है कि तू ओठों से एक उफ तक न निकाले!' और तब वह बेचारा एक बार अंतिम स्वरों में चहचहाया और फिर एक युग तक गुमसुम होकर बैठ गया।]

मौन होजा रे अभागे! व्यर्थ अब क्यों गुनगुनाता?

साँझ की अरुणाभ रेखाएँ छिपी धुँधले गगन मे।
विश्व का उन्माद थक कर सो गया निद्रित विजन मे।
क्रूर मावस का गहनतम तम घिरा घनघोर भू पर।
छू धरा को सर्पिणी सा साँस लेता क्षुब्ध मर्मर।
बुझ गये दीपक निशा के, लुट चुकी नभ की दिवाली।
आज रजनी भी सिहरती देख मेरी रिक्त प्याली।
घुमड़ता सा यह अँधेरा एक बस संदेश लाता—
मौन होजा रे अभागे! व्यर्थ अब क्यों गुनगुनाता?

क्षितिज के उस पार गाती है विपथगा क्षीण स्वर में;
काँपती सी स्वर-लहरियाँ बिखर खो जातीं डगर में।
नील सागर की उसासे खोजती नभ का किनारा।
शून्यता ही बन गई है शून्य की अभिशप्त कारा।
क्षणिक लहरें बन बिगड़ती मृत्यु का वरदान पाकर।
विकल जल करवट बदलता आग युग-युग की दबाकर।
मौन स्वर में, मूक भाषा मे यही आदेश आता—
मौन होजा रे अभागे! व्यर्थ अब क्यों गुनगुनाता?

व्यथित निश्वास

[बेबस की आहों का असर कभी खाली नहीं जाता। करुणा में तो वह शक्ति है जिससे एक बार तो पत्थर भी पसीजे बिना नहीं रह सकते।]

दूरवासी इस प्रवासी के व्यथित निश्वास
कब तक चुप रहेंगे ?—
एक दिन इनके प्रलय-स्वर से सिहर कर, क्रूर
पत्थर रिस उठेंगे।

धूल के पथ में निपट अनजान,
चूमते नभ, झूमते मद से सदा अम्लान,
पूर्ण वैभव के खिलौने,
भूमि की छाती कुचलते, लाड़ले अति ढीठ छौने,
खँडहरों की क्षीण, अस्फुट आह सुन, प्रासाद
डगमग हिल उठेंगे !

शुष्क बालू के चिने अम्बार,
चिर अपरिचित नीर से, नीरस खड़े साकार,
सोखते जीवित तरलता,
छू जिन्हें जगते फफोले तारकों से ले विरलता,
निर्झरों के देख बहते अश्रु, मरु के उच्च
टीले बह चलेंगे !

उलहना

[इन अधरों के दुर्भाग्य का भी कोई ठिकाना है जिन्हे, और तो और, अपने प्रियतम का नाम तक लेने का अधिकार नहीं। पर वे अपनी मुखरता के कारण लाज में लिपटी प्रिया के लज्जा से लटपटाते चरणों को और भी डगमगादें—यह भी तो ठीक नही।]

एक दिन मेरे अधर देने लगे मुझको उलहना!—

"आह जी! हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा?
क्यों कुचल डाली सरल इच्छा हमारी?
सूखकर मुरझागये, नीले पड़े हम,
देख, क्या फटती नहीं छाती तुम्हारी?

रम रही जो रोम-रन्ध्रों में निरंतर,
जो तुम्हारी शेष श्वासो का सहारा,
नाम ही लेलें कभी उसका ललक कर—
क्या नहीं अधिकार इतना भी हमारा?

कौन प्रणयी विश्व में जिसके अधर हमसे अभागे?—
नाम तक प्रियका न ले पाते!—अधिक का कौन कहना?"

कितना मँहगा ?

[सोचना दुःख का कारण हो सकता है, किन्तु यह भी सत्य है कि दुखी व्यक्ति ही सोचने की क्षमता रखता है और वही जीवन के अतस्तल में पैठ कर सत्य का असली रूप पहिचान सकता है ।]

कितना मँहगा साँसों का क्रम ?—
कितना मँहगा पड़ता जीवन ?—
क्या भूल किसी ने भी पल भर को भी सोचा ?

सोचा किसने ?—
मानव की कितनी बड़ी हार,
मृगतृष्णा का कितना प्रसार,
जीवित रहने की साध छिपाये अपने मे !
वरदान नहीं,
कुसुमो सा कोमल, सरल, तरल, छविमान नही,
जीवन तो सौदा है—सौदा निज प्राणो का।

यह वह सौदा,
जिसमे फँसकर भोला मानव ठग जाता है,
जिसमें फँसकर भोला मानव मिट मिट कर मूल्य चुकाता है,
जिसमे फँसकर भोला मानव पगपग पर नितप्रति अपनी
चिता सजाता है ।

जगती के पथरीले सिक्के
क्रय विक्रय कर सकते केवल छोटे मोटे से उपादान।
पर जीवन तो सौदा महान,
ग्राहक विक्रेता दोनों ही इसके महान,
फिर वे सिक्के जो मूल्य चुकाते जीवन का
क्या हो सकते
रुपया–आना–पाई के ताने-बाने से निर्मित वितान ?
है सत्य यही
जग के सिक्के अति तुच्छ, क्षुद्र, अति तुच्छ, क्षुद्र,
पर वे सिक्के जो मूल्य चुकाते जीवन का
अति ही महान! अति ही महान! अति ही महान!

हतभाग्य मनुज
मन को मसोस कर ही ले सकता एक साँस,
छाती पर पत्थर रख कर ही ढो सकता जीवन हाँफ-हाँफ।
क्षय रोगी सा दुर्बल जर्जर,
अवरुद्ध कंठ से घरर-घरर,
डगमग डगमग अति सिहर-सिहर,
गिनती के पग रखता मानव जग के गिरि-गह्वरमय पथ पर।

चलते चलते
पग-पग पर ठोकर खा मानव पथराता है;
अपने शोणित के घूँट स्वयं पी जाता है।
करता रहता
अगणित उच्छ्वास, अश्रु अर्पण;
जीवित रहता

कितना भारी !
उफ़, मूल्य चुकाना पड़ता है कितना भारी !
अपनी गिनती की साँसो के स्पन्दन का,
अपने छोटे से चार दिवस के जीवन का !

कितना मँहगा साँसों का क्रम ?—
कितना मँहगा पड़ता जीवन ?—
क्या भूल किसी ने भी पल भर को भी सोचा !

[मार्च, '४२

मिट्टी के पुतले

[प्रतिक्षण धुँधले पड़ते हुए अतीत और अपूर्व आकर्षण से झिलमिलाते भविष्य के आगे बेचारे मिट्टी के पुतलों की बिसात ही कितनी? किन्तु किसी किसी पुतले की हस्ती केवल मिट्टी का खिलौना ही नहीं होती जो चट से टूट फूट कर खत्म हो जाय।]

मिट्टी के पुतलों की हस्ती,
मिट्टी के पुतलों की बस्ती,
बस देख चाँदनी चार दिवस में लुट जाती !

फिर बस जाती
अनगिनत बस्तियाँ पल भरमें;
हो उठती नूतन चहल-पहल फिर जीवन में !

मिटता जाता धुँधला अतीत,
बनता जाता झिलमिल भविष्य,
बस इसी तरह बढ़ती जाती गति जीवन की !

चाँदनी रात, फिर अमा-निशा;
स्वर्णिम ऊषा, अनमनी साँझ;
जीवन-उपवन की बात यही—
फिर फिर वसंत, फिर फिर पतझर !

बालकों सी

[कोई बात नहीं सुनता, तो बेचारे बालक सुबक-सुबक कर, अपनी बात भूल, निद्रा की गोद में अचेत सो जाते हैं। मन की व्यथा को सुनने वाला भी कोई नहीं, तब वह भी निराश होकर शिकायत करना भूलती जा रही है।]

बालको सी ही मचल, रो-धो सुबक, फिर
स्वयं ही सो जायगी मन की व्यथा भी !

नीर का विस्तीर्ण पारावार
ले रहा रह रह हिलोरें आज सौ सौ बार,
करवटें अनगिन बदलता,
एक दिन चट्टान सी जम जायगी विह्वल तरलता;
बह निरंतर बूँद-बूँदो मे किसी दिन
सूख जायेगी स्वयं मन की व्यथा भी !

ठूँठ सा वन में खड़ा निर्जीव,
कीर कोकिल दूर, विरही दीन-हीन अतीव,
घुल रहा जो आज तिल तिल,
दिन बितायेगा वही फिर चील-गिद्धों साथ हिलमिल;
मौत के उच्छ्वास सी गुमसुम बनेगी
हार कर, मन मार कर, मन की व्यथा भी !

सान्ध्य-प्रभाती

[प्रभात के झीने वातावरण मे प्रभाती की एक मनोमोहक स्वर-लहरी अपने आप उठी । गायक मदहोश होगया । एकाएक जब ,उसकी तन्द्रा टूटी तो उसके कानो में प्रभाती के उल्लसित स्वर न सुन पडे—अब वहाँ सान्ध्य-गीत के गीले गीले स्वर गूँज रहे थे । प्रभाती तब तक सान्ध्यगीत में परिणित हो चुकी थी ।]

अविरल अनाहत प्रभाती की तरलता से
विस्तृत क्षितिज के कँगूरे हिल उठते थे ।
झकृत सितारो पर
मानव की कोमल उँगलियाँ थिरकती थी ।
रजनी बनी थी प्रकाश की पहेली सी;
तारों के प्रांगण में
विश्व-हास नाचता था घूम-घूम, झूम-झूम ।
अगणित उमंगो की लूट हो रही थी
मानव के भव्य द्वार पर ।
आशा तिरती थी अनजाने ही
अधरों की लहरियो मे ।
मानव की सुरभित सजीली सी नशीली साँस
देती थी अमूल्य सुरभि विश्व के प्रसूनो को ।
आँखो से टपकता था
भोली सी हरिणी का भोलापन;
मानव के दिन थे—गुलाबी से, रंगीन,
कवियो की उर्वर कल्पना थी खड़ी मूर्तिमान् ,

जगती की पतली सी रेखा पर
आकुल हृदयों मे गठबन्धन हुआ।
मानव पढ़ने लगा
रजनी के हृत्पट पर तारो की भाषा को।
हृदय बनगये नयन, नयन बने हृदय;
मानव की भाषा अब नयनों की भाषा थी
नव-विवाहिता सी मौन।

सरिता सराहती थी मन्द हिलकोरो से
मानव के भाग्य को;
नीलम-वितान में प्रकाश-दीप जागते थे,
याचक हो करते थे कटाक्ष-पात लुक-छिपकर
मानव के भोले से सुख से।

निष्ठुर संसार यह !
किसकी मुस्कान खिली देख सका ?
किसके अरमान पूरे कर सका ?
जीवन की सफलता-असफलता, यश-अपयश के
माप-दंड जग के अपरिचित थे मानव से,
मानव था भोला ही।
भूल जाता था वह बार बार--
क्या है पाप ? क्या है पुण्य ?
भावुकता रह रह मचलती थी मानव की
स्वप्न भरी, प्यार भरी जीवन-तलहटी में
मधु-ऋतु की साध लिये।
किन्तु दुर्भाग्य से

पलक मारते ही बस
जीवित श्मशान बना।

मानव के प्यासे अधर चूमने को थे
जीवन-सुरा की उस पहिली ही प्याली को,
एक कॅपकॅपी छुटी,
भरी हुई प्याली वह, मानव के हाथों से छूट पड़ी।
पश्चिम के सूने से कोने में
मानव ने देखी थी छोटी सी बदली,
किन्तु आज अम्बर में
काले-काले बादल मँडराते थे।
एक जुगनू भी न जलता था
जीवन के घनघोर पावस मे,
एक केकी भी न करता था
पावस का सुमधुर आह्वान आज।

जीवित कंकाल सा मानव अब मानव का प्रेत था;
यौवन भी रूठ गया।
पथिक चला जा रहा था जीवन-मरुस्थल से
ऊसर में, लम्बे सुनसान में
जिसमें तनिक छाँह नहीं,
पलभर विश्राम को एक मरुद्यान नहीं।
खाली पिटारो के पास मे
बैठा था बाजीगर मूर्तिवत्,
आँख फाड़-फाड़ देख लेता था
दूर कभी शून्य मे।

दो चित्र

[एक ही वस्तु के दो चित्र हैं। एक कितना उजला और आकर्षक है कि उसे देखते ही बनता है और दूसरा कितना मलीन है कि उसका पहिला रूप भी कठिनता से पहिचाना जाता है।]

[१]

चाँद खिला नभ-सर में—
राका मुस्काई।
दीप जले नभ-पथ पर—
आशा लहराई।
गगन धुला उज्ज्वल हो—
धरती धन्य हुई।
नाच उठे तरु-तृण सब—
दीप्ति अनन्य हुई।

[२]

चाँद छिपा बदली में—
राका कुम्हलाई।
दीप बुझे पग-पग पर—
आशा मुरझाई।
गगन घुटा तममय हो—
धरती दीन हुई।
म्लान हुए तरु-तृण सब—
दीप्ति मलीन हुई।

[अगस्त, '४२

मन की बात

[सपनों के महल ही जब टूट चुके, तो छोटी सी इस मन की बात की ही हस्ती क्या ? अपनी व्यथा को अपने भीतर दबाता हुआ सदा का यह संकोची जीव बाहर उफनती हुई मन की बात को सुलाने के प्रयत्न में है ।]

युग-युगों से घुट रही जो बात मन में,
कौन है ? किसको सुनाऊँ ?

व्यर्थ ही मुझसी सिसकती रात,
व्यर्थ ही करवट बदलती सुप्त मन की बात,
व्यर्थ ही मन कसमसाता,
बाण से घायल, धराशायी विहग सा छटपटाता,
फाड़ आँखें देखता, यह ज्वार मन का
कौन है ? किसको सुनाऊँ ?

दूर है, अति दूर मन के मीत,
होगये लय एक क्षण में युग-युगों के गीत,
नीड़ तृण चुन-चुन बनाया,
उड़ गया बस एक झोके में युगो से जो सजाया,
रह गया तब देखता; मन की व्यथा अब
कौन है ? किसको सुनाऊँ ?

दीवाली की अमानिशा

[अपनों से किसी प्रकार भी छूट नही, और फिर अंतर्वासी तो बड़ा ही ढीठ होता है। नयनों की राह के अतिरिक्त, अंतर में आने के लिये, उसके पास एक नही, अनेक रास्ते हैं।]

माना तुम अगणित दीप जला,
दीवाली की इस अमा-निशा को जगमग-जगमग कर दोगी!
पर सच-सच बतलाना! क्या यों
अपने अंतर की अमानिशा का अंधकार भी हर लोगी?

हँस बाहर के सुख-सपनो में
क्या छिपा सकोगी अंतस्तल की मर्म-व्यथा?
यों भूल स्वयं अपने को ही
क्या भुला सकोगी वह नन्ही सी करुण-कथा?

कितने दिन तक टिक पायेगा
यह आत्मवंचना से प्रेरित सुख का सपना?
कितने दिन तक चल पायेगी
यह उदासीनता—यह झूठी मन की छलना?

सोचने की बात

[किसी गरीब की नासमझी पर तरस खाकर हम कह उठते हैं—"तुम बड़े नासमझ हो जी ! अरे आखिर ऐसा भी क्या ? ज़रा सोचने की बात है !" पर वह मन:स्थिति कितनी भीषण होती होगी जब स्वयं अपने को यही सब कह सुनकर समझाना-बुझाना पड़ता है ।]

क्यों गले तिल-तिल, ढले जल-जल प्रवासी ?—
सोचने की बात है ! ऐसा अरे क्या ?

एक दिन जो था मुखर प्रिय गान,
निर्झरों सा फूट पड़ता था सदा अनजान,
आज है गुमसुम निशा सा,
साँझ के सुनसान मरघट की उदासी सा रुँआसा;
क्यों बने अंधा, बधिर, गूँगा प्रवासी ?—
सोचने की बात है ! ऐसा अरे क्या ?

स्वयं ही निज प्राण तोड़-मरोड़,
विश्व के अगणित सुखों से मुख सदा को मोड़,
वेदना से जोड़ नाता,
आँसुओं से सींचता पथ, पग बढाता लड़खड़ाता;
क्यों बने यों क्रूर अपने प्रति प्रवासी ?—
सोचने की बात है ! ऐसा अरे क्या ?

यदि

[यह यदि कदाचित सारे जीवन की ही यदि है ! मृत्यु के आरपार जाकर भी कभी यह निश्शेष हो सकेगी !—कौन कह सकता है ?]

यदि तुम्हारी गोद में सर रख कभी कुछ गा सकूँ !
बन गया हूँ प्राण ! क्या तुम बिन तुम्हें बतला सकूँ !

हिचकियाँ बँध जायँ, बरबस अश्रु-धारा बह चले !
टूट जायें वेदना के बाँध, स्वर-श्वासा रुँधे !
जानलो, कहते किसे चिर-वेदना की चिर-कथा !
मानलो, होती बड़ी भीषण वियोगी की व्यथा !
देख अपने की दशा छाती तुम्हारी भर उठे !
ज्ञात हो, होते विरह के रात-दिन कितने बड़े !
रोकने पर भी झलक आयें हृदय के चोर दो !
काँप भावावेश में झट झुक बरुनियाँ चूमलो !
कह उठो यो पोछ साड़ी से सजल नीले नयन !
"आह ! दुख पाया बहुत, मुरझा गये मेरे सुमन !
मुस्कराओ ! याद है, या भूल बैठे वह हँसी ?
अब न छाती से अलग होने तुम्हे दूँगी कभी !"
सह न पाये इस अतल सुख के हिलोरे को हृदय !
दिनों का जर्जर सिमट कर तुम्हीं में हो जाय लय !

यदि तुम्हारी गोद में सर रख कभी कुछ गा सकूँ !
बन गया हूँ प्राण ! क्या तुम बिन तुम्हे बतला सकूँ !

[अप्रैल, '४२

छूटता पतवार अब ! फोड़ा लबालब भर चुका !
टूटने वाला सितारा ! मन सभी कुछ सह चुका !

आह ! पर अब तो सहा जाता नहीं !
दूर यों प्रिय से रहा जाता नहीं !
मन न अब मुझसे बहल पाता ! तिनक कर रूठता !
क्या करूँ ? मैं क्या करूँ ?

[अप्रेल, '४१

लाज की पुतली ! बहुत मन मारता ।
क्या करूँ ? पर अब रहा जाता नहीं !
धैर्य खो कर मन मचलता कह यही—
'आह जी ! अब तो सहा जाता नहीं !'

दूर तट से ! आगया मझधार में,
लौटना भी तो रहा सम्भव नहीं !
बढ़ चुकी अब तो बहुत ही बात ! जो
बढ़ रही दिन-दिन, सहारा हो तुम्हीं !

आह जी ! उस एक चितवन में न जाने क्या भरा !—
दीन-दुनियाँ को बदल जिसने दिया ?
बिक गया बेमोल, जिसपर रीझ, मन हँस, लुट गया !—
कौन वह मुस्कान ? क्या जादू किया ?

[जून, '४३

|||

बन शुभाशीष, जबतक तुम पर फैली सहास,
उन सघन बरुनियों की श्यामल शीतल छाया !
जबतक तुममें खोजाने को आकुल, अधीर
वह विश्वमोहिनी, जादूगरनी—उसकी मोहमयी माया !
तबतक मत हो यों टूक टूक ! मत बार बार भर भर आओ !
मत असमय ही मुरझाओ भोलेभाले मन !

[अप्रैल, '४३

हीरक-कनी !

[प्रियतम प्रतिदान में कुछ दे, चाहे न दे, पर प्यार करनेवाले की आराधना पर सन्देह करने का अधिकार उसको भी नहीं है ! और यदि ऐसा होना ही है, तो फिर न हो कोई अभागा किसी को प्यार करने लग जाये ।]

हीरक-कनी !
मेरी प्रतनु हीरक-कनी !
तममय हृदय की ज्योति ! मेरे तिमिरमय मन की मनी !
हीरक-कनी !
मेरी प्रतनु हीरक-कनी !

कौन ? तुम बिन और मेरा कौन है ?
बाँह गह मुस्करे अकिंचन की रखे जो लाज—
ऐसा कौन है ?
मौन है ! संसार सारा मौन है !
छोड़ कर उन बोलते से दो दृगों की ही दिलासा,
और तो मेरे लिये संसार सारा मौन है !

पीयूष-वर्षिणि रागिनी !
घन-श्याम की सौदामिनी !
मरुभूमि की मंदाकिनी !
अनुदार जीवन-धार में—मझधार में पतवार तुम मेरी बनी !
हीरक-कनी !
मेरी प्रतनु हीरक-कनी !

याद

[उस समय एक सुनहली रेखा जीवनाकाश को घेर रही थी। अब अवसाद की तह पर तह उसे मलीन बना चुकी है। किन्तु फिर भी उसकी याद चाहे जब तम का अन्तर चीर कर विद्युत-वेग से कौंध जाती है।]

कितने दिन आये, चले गये,
पर याद तुम्हारी ऐसी है
जैसे हो कल की बात !

झाँकता जब जब कभी उस ओर,
जागता गोधूलि में तब तब सुनहला भोर,
आज भी जब याद आती,
सान्ध्यगीतों का विषम स्वर चीर फिर उठती प्रभाती;
अब भी सन्ध्या की बेला में
होकर सजीव जगमग जगमग
चित्रित हो उठता प्रात !

शून्य सा ही आज का संसार,
भर अभावों से गया, अनुताप से सरसार,
आज भी जब मन घुमड़ता,
भीत शिशु सा झट तुम्हारी याद का अचल पकड़ता;
छिप जाते उस सुधि के पीछे
अपना अपना सा मुँह लेकर
जगती के उल्कापात !

वासन्ती साँझ

[वसन्त-पंचमी की वासन्ती साँझ—बस इतनी सी ही बात थी। पर मन ही तो है ! साँझ के वासन्ती बादलों में उलझकर न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गया। कुतूहल और जिज्ञासा ने पूछा—"क्योंजी ! वासन्ती साड़ी ?" कल्पना और विश्वास ने तुरन्त ही उत्तर दिया—"हाँ, हाँ ! वासन्ती साड़ी !" बस बात अब उतनी ही न रह गई।]

आज वसन्त पंचमी की वासन्ती साँझ !
विहँस उठी तुम रोम-रोम में पहिने वासन्ती साड़ी !

देश-काल की प्राचीरो को चीर
खनक उठे मन में मंजुल मंजीर,
मन्द चरण धर, प्राणो की सरगम पर प्राण !
थिरक उठीं तुम छम-छम, छम-छम पहिने वासन्ती साड़ी !

आह ! आज कितना मनभावन वेश !
छुटे पीठ पर मायावी घन-केश,
सटकारे, घुँघरारे, काजर-कारे केश
छू कपोल हँस दिये, हँसीं तुम पहिने वासन्ती साड़ी !

फैल गया पलभर में विद्युत-हास,
विहँस उठी धरती, विहँसा आकाश,
हुई विजन-वल्लरी पल्लवित, घन रंगीन,
मंत्रमुग्ध मै हुआ; चलीं तुम पहिने वासन्ती साड़ी !

आज तुम्हारा मृदुल लजीला गात
बिना कहे कहगया तुम्हारी बात,
बोल उठीं बिनबोले वे नयनों की कोर,
रहो कहीं भी ! छिप न सकोगी पहिने वासन्ती साड़ी !

प्राण ! तुम्हारे वसन वसन्ती देख
खिची म्लान अधरों पर सुख की रेख,
ऋतु वसन्त आगई—मुझे हो आया याद
देख तुम्हें मन-मन्दिर में यों पहिने वासन्ती साड़ी !

[फरवरी, '४३

अब भी !

[प्यार भरे दो बोल—इतने में किसी का कुछ घट नही जाता, पर दुनियावी समझदारी की देहली पर अंतर्मुखी आराधक को इतना सा भी मिलना सम्भव नहीं। जिस दिन उसने आराधना आरम्भ की थी, कदाचित् उसी दिन उसके लिये काँटों की सेज तैयार हो गई थी।]

इतनी सशक्त हो तुम अब भी
मेरे रोएँ-रोएँ को पल में पीड़ा से भर सकती हो!
इतना अशक्त हूँ मै अब भी
मेरा रोआँ-रोआँ रो देता उस पीड़ा से पीड़ित हो!

अंचल की ओट छिपा तुमने दी ज्योति कभी
जिस दीपक को नव-जीवन हो,
बन जाने दोगी क्या आँधी का ग्रास उसे
अब रूठ उसी से, निर्मम हो?

मेरे अंतर के अंधकार को निश्चय ही
तुम हीरा सी ज्योतिर्मय हो!
हीरा होता पाषाण, किन्तु विश्वास नहीं—
तुम हीरा सी पाषाणी हो!

मुरझाये फूल की बात

[फूल जब पूरा पूरा फूल गया तो कौतूहलवश मदिर नयनों से संसार को निहारने लगा। पत्तियों की ओट से कली की उनींदी आँखों ने उसे मूक निमंत्रण दिया। किन्तु उसी समय वह मदहोश फूल एक ही झोंके में जमीन पर आ गिरा और कुम्हला गया। अपने मुरझाने का रंज उसे शायद ही हुआ—कुछ ध्यान हुआ तो यही कि उसकी कली खिली रहे।]

मधुवन का मुरझाया प्रसून अंतिम स्वर भर चहचहा उठा—
ओ मधुवन की मधुमयि कलिके! मधु-अन्ध करो, मधु-गंध भरो!

चलते चलते, दो-चार साँस के धनी कुसुम की चाह यही—
ओ मधुवन की उत्फुल्ल कली! दिन-दिन विकसित हो हो विहँसो!

मृतप्राय मनुज के रक्त-हीन नीले ओठों सी पंखुड़ियाँ
थर थर कँपतीं, कँप कँप कहतीं—'हम चलीं, अरी कलिके! विकसो!'

हतभाग्य कुसुम पर काल रात्रि की साँय-साँय झुक झूम रही,
पर ओ मधुवन की मायाविन! शतशत युग तक तुम जिओ जिओ!

अधमरा, क्षयी, रोगी प्रसून अपना तिल-तिल क्षय देख चुका,
पर देख न पायेगा मधुमयि! मधुघट के किंचित् मधुक्षय को!

मिट्टी में मिल मिट गया स्वर्ण सा फूल, सहे दंशन सौ सौ,
पर ओ हँसमुख! सामर्थ्य नहीं—सह सके तुम्हारे नत मुख को!

पददलित, धूलि-धूसरित सुमन मिट चला भोर के तारक सा,
पर ओ मधुबाले! तुम प्रतिक्षण कण-कण में नव मधु बन बरसो!

धुएँ के धब्बे

[अतीत के चिह्न अब अस्पष्ट धुँए के धब्बे से शेष हैं। पुस्तक के पहिले गीत के दो विहंगम इन्ही की तरह धुँधले पड चुके है। ऐसा होते होते कितनी भीषण व्यथा भोगनी पडी होगी—उसका कोई शायद ही गुमान कर सके। डर इतना ही है कि क्षीण होते होते ये धुएँ के धब्बे किसी दिन बिलकुल ही न मिट जायँ। यह सोचकर बडा ही दुख हो रहा है। ऐसा हुआ तो बचीखुची सॉसें अधिक दिन तक न चल सकेंगी। जीवन के बढने के साथ साथ बीती बातें केवल स्वप्न की तरह अनिश्चित सी जान पडती हैं और ऑसू भी धीमे धीमे सूखते चले जाते हैं। किन्तु एक साथ यात्रा आरम्भ करने वाले ये दो विहंगम यदि जीवन पर्य्यन्त इन धुएँ के धब्बो को विस्मृति से बचा सके तो उनका दुर्भाग्य उनको बहुत कम सतायेगा।]

धुएँ के दो-चार धब्बे! सामने दीवाल पर—अंतर-पटल पर भी!

बाँध आशा, सामने का दीप, युग-युग तक जला चुपचाप,
आश टूटी, बुझ गया बेबस किसी दिन अचक अपनेआप;

स्नेह से परिपूर्ण दीपक सा जला, फिर बुझ गया हो क्षार अंतर भी!

स्नेह-रज्जु-विहीन, टूटा मृत्तिका का पात्र भी बेहोश,
रिक्त उस सा, भग्न उस सा, चेतना खो, मैं स्वयं ख़ामोश;

मृत्तिका का पात्र मिट्टी में मिलेगा—मिटेगी यह देह नश्वर भी!

युग-युगों के उस महा उद्दाम नीरव दाह के अवशेप
धुऍ के दो-चार धब्बे, नाम भर को, रह गये बस शेप;

क्या छिनेंगे पुतलियों को आर्द्र करने के गिने दो-चार अवसर भी?

[सितम्बर, '४२